भारत एक है

मन की एकता और सच्ची राष्ट्र-भावना
को जगाने वाली एक अनमोल पुस्तक

सीताचरण दीक्षित

राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली



गांधी स्मारक निधि, राजघाट, नई दिल्ली १
के सहयोग से
राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली ६
द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण मई १९६७

मूल्य एक रुपया

मुद्रक हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, क्वीन्स रोड, दिल्ली ६

वक्तव्य

अकबर इलाहाबादी ने उर्दू में कविता लिखी थी—

बुद्धू मियाँ भी हजरत गाँधी के साथ हैं।
गो खाके मुश्त हैं मगर आँधी के साथ हैं।।

इसका अर्थ है कि आम आदमी भी महात्मा गांधी के रास्ते पर चलने को आतुर है यद्यपि स्वयं उसकी अपनी शक्ति सीमित है परन्तु एक आन्दोलन के वायुमंडल में वह भी बड़े-बड़े त्याग करने की सामर्थ्य पा गया है। यह गांधी की आंधी जो भारत ने देखी और जिससे सारा संसार प्रभावित हुआ वह थी सामान्य व्यक्ति की त्याग सामर्थ्य को बढ़ानेवाले वातावरण की पावनता। देश की आजादी के लिए सबके मन में तड़पन पैदा हो गई थी, पर गांधीजी ने एक ऐसा रास्ता सुझाया जिसमें हर नागरिक अपना योगदान दे सके। अहिंसा का जो रास्ता था वह थोड़े नेताओं को पैदा करने की बजाय आम जनता को ऊपर उठाने का रास्ता था, और उससे करोड़ों में चेतना आई और लाखों ने उसमें अपने त्याग का उदाहरण रखा।

पर आई आजादी। गांधी का ऐहिक जीवन समाप्त हुआ। सत्ता और संपत्ति की सनातन होड़ में त्याग की शक्ति पर आधारित जनक्रान्ति के रास्ते से काफिला दूसरी तरफ मुड़ गया और ऐसा लगा कि गांधी की आंधी थम गई। आर्थिक राजनीतिक सामाजिक जीवन में जो भी परिवर्तन लाने हैं उनको केवल राज्य सत्ता के आधार पर लाना सम्भव नहीं—यह भुला दिया गया और लोकशक्ति का जो जागरण गांधी युग में हुआ था और जो आजादी के बाद आगे बढ़ना था वह न बढ़ा। त्याग के स्थान पर सत्ता और और लोक के स्थान पर राज्यशक्ति के अधिक जोर देने से जो नतीजे आए हैं वह सामने हैं।

पर क्या जो सांस्कृतिक चेतना के तत्त्व गांधीजी ने प्रतिपादित किए भुलाए जा सकते हैं? भारत में उनपर एक हलका परदा छा गया है, संसार में, सभी देशों में, तत्त्ववेत्ता उत्तरोत्तर अनुभव कर रहे हैं कि हिं की पराकाष्ठा के इस युग में अहिंसा की शक्ति का विकास ही उसका शम कर सकेगा, और इसके लिए गांधी इस युग में एक दीपस्तम्भ हैं। यह पुस्त तथा अन्य दो पुस्तकें[1] गांधी विचार के पोषण में गांधी जन्मशताब् (१९६९) के उपलक्ष्य में *गांधी स्मारक निधि* ने तैयार कराई हैं त राजपाल एण्ड सन्ज़ की ओर से प्रकाशित हो रही हैं। हम पूर्ण आशा कि ज़बान में सादी, विचारों में सहजगम्य तथा कट्टरता से परे और मौलि तथा रोचक रूप में लिखी विद्वान लेखकों की ये पुस्तकें अपने उद्देश्य सफल होंगी और निधि की लोक जागरण की यह आशा पूरी करेंगी कि—

बूंद बूंद से गागर भरती, नदी-नदी से सागर।
किरन इकट्ठा हुई कि होता सारा जगत उजागर॥

गांधी स्मारक निधि
राजघाट
नई दिल्ली १

(देवेन्द्र कुमार गुप्त)
मंत्री

---

[1] सौ सवाल एक जवाब — प्रभाकर माचवे, मूल्य एक रुपया। करुणा की कहानियाँ — डा० रामबहादुर सिंह, मूल्य एक रुपया।

पुस्तक के सम्बन्ध मे

भारत म एकता और राष्ट्र भावना का अभाव नही है। परन्तु समय समय पर ये भावनाए मन्द पड जाती हैं और हम सकीण स्वार्थों के वशीभूत होकर समग्र राष्ट्र के हितो की उपेक्षा कर जाते हैं। इसलिए इन भावनाओं को सहज और स्वाभाविक बना देना आवश्यक है। राष्ट्रीय हितो के प्रति सबके भाव समान हो जाने पर ही हम द्रुत गति से अपनी उन्नति और स्वतन्त्रता की रक्षा करने मे समथ हो सकते हैं।

भारत के इतिहास म हृदय की एकता और राष्ट भावना के सगठन के जो प्रयत्न अब तक हुए, उनमे महात्मा गाधी क प्रयत्न सर्वाधिक व्यापक और सफल रहे हैं। उनके चतुमुखी प्रयत्नो का आधार त्याग था, भोग नही, प्रेम था, द्वेष नही, न्याय था, अन्याय नही, प्रत्येक का हित था, समाज विशेष अथवा वग विशेष का नही, शाश्वत था, क्षणिक नही। परन्तु स्वाथ, सकीणता और द्वेष की विभाजक शक्ति साम्राज्यवादी राजनीति स पोषण ग्रहण करके इतनी प्रबल हो उठी कि वे भी अपने प्रयत्नो म पूण सफलता प्राप्त नही कर सके।

मरा अटल विश्वास है कि गाधीजी न जो माग दिखाया उसपर चल कर ही हम हृदय की एकता और सच्ची राष्ट्र भावना को दृढ कर सकते हैं, वही स्थायी सुख और शान्ति का सर्वोत्तम माग है।

गाधीजी ने सब भारतीयो की सुषुप्त शक्ति को जागृत कर उन्हे एक सामान्य लक्ष्य की ओर बढाया। उन्होने सिखाया कि सकीण स्वार्थों को भुलाकर समस्त भारत के और उसके द्वारा समस्त मानवजाति के कल्याण म अपना कल्याण देखो इसीके अनुसार आचरण करो और अपने जीवन को ढालो, पचमवग अर्थात दलितो और अन्याय-पीडितो के प्रति प्रायश्चित्त

की वृत्ति मे काम लो दरिद्रनारायण का तिरस्कार करने के बदले तोषण और सत्कार करो।

हृदय की एकता उद्दीप्त और प्रदीप्त करने के लिए बुद्धि भावना और कर्म—तीनों का प्रेरित करना आवश्यक है। इस पुस्तिका मे मुख्यत बुद्धि और भावनाओ को ही प्रभावित करने का प्रयत्न पूरी ईमानदारी के साथ किया गया है। कर्म का मार्ग कठिन है। उसके निर्देशन और उसकी प्रेरणा देने का अधिकार तपोपूत मनीषियो का है। उसमे दखल देने म मैंने सकोच किया है। इस कमी के होते हुए भी यदि इस पुस्तिका मे लक्ष्य सिद्धि का मार्ग जरा भी प्रशस्त हो तो मैं अपने आपको धन्य मानूगा।

गाधी स्मारक निधि के यशस्वी मत्री श्री देवेन्द्रभाई की प्रबल प्रेरणा के बिना यह पुस्तिका सम्भव न होती। अतएव यदि किसीको इसका श्रेय मिलना चाहिए तो उन्हें ही। प्रकाशक तो धन्यवाद के पात्र हैं ही।

दिल्ली ६ मई, १९६७ —सीताचरण दीक्षित

सूची

अहरह तव आह्वान प्रचारित
सुनि तव उदार वाणी
हिन्दू बौद्ध सिख जैन पारसिक
मुसलमान ख्रिस्तानी
पूरब पश्चिम आसे
तव सिंहासन पासे
प्रेम हार होय गाथा
जन गण ऐक्य-विधायक जय हे !
भारत भाग्य विधाता !

—श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

एक

यह है देश हमारा

हिमालय से हिन्द महासागर तक और नपा म द्वारका तक फैला हुआ यह विशाल देश हमारी भारतमाता है।

अभी कुछ ही समय पूर्व हमारी माता के आयुष्य में इतने समय का महत्त्व तो कुछ दिनों के ही बराबर है—यह सब तरह से समृद्ध और उन्नत थी। परन्तु हमारे लिए यह सदा से कर्मभूमि, धर्मभूमि, स्वर्ग से भी महान् भूमि रही—आज भी है।

ऋषि मुनियों ने यहां तपस्या करके अखिल सृष्टि के कल्याण के मंत्र जगाए। साधु-सता ने अपनी मंगल वाणी में 'सोऽहं' गान करके यहां के कण-कण को प्राण पूरित किया। आचार्यों ने सत्य और मिथ्या, विद्या और अविद्या, हिंसा और अहिंसा, जीवन और मरण का रहस्य बताकर हमारे परमलक्ष्य का पथ प्रशस्त किया, उसे ज्योतिर्मय बनाया।

धामों और तीर्थों की प्रेरणा

रामेश्वर और बद्रीनाथ, पुरी और द्वारका—चारों दिशाओं में ये जो चार धाम हैं, सारे भारत की जनता को सभ्यता के उषःकाल से ही कर्म, भक्ति और ज्ञान का पावन संदेश देते आ रहे हैं। भारतमाता की अखंडता की दुहाई देकर ये बताते हैं कि जीवन टुकड़े-टुकड़े में बँटा हुआ नहीं, अखंड है।

काशी और प्रयाग, वृन्दावन और मथुरा, मथुरा और अयोध्या, ऋषिकेश और कन्याकुमारी, गया और गोकर्ण, दक्षिणेश्वर और पंढरपुर से प्रवाहित भक्ति धाराएं निरन्तर संदेश दे रही हैं कि मनुष्य, तू अपने-आपको समझ, अपने अन्दर छिपी हुई दिव्यता को पहचान और अखिल सृष्टि की एकात्मता का साक्षात्कार कर। सारे भारत का आकाश गूंजता है

सर्वत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात् ॥
ओ३म् शान्ति शान्ति शान्ति ॥

महावीर और बुद्ध के सन्देश

यह देखिए, काशी के पास ही यह सारनाथ है। यहां भगवान बुद्ध ने अपना प्रथम सन्देश सुनाया था। उन्होंने कहा था, 'वैर से वैर का कभी शमन नहीं होता, अवैर से होता है। क्रोध को अक्रोध से जीतो, बुराई को अच्छाई से, कृपणता को दान से, असत्य को सत्य से।' उन्होंने और कहा था "दुराचारी, असयमी होकर देश का अन्न—राष्ट्र पिंड—खाने की अपेक्षा अग्निशिखा के समान तप्त लोहे का गोला खाना अच्छा है।' परन्तु ये बातें काम में न आएं तो कहने से क्या लाभ? इसलिए उन्होंने कहा, 'धर्मग्रन्थों का कितना ही पाठ करे, यदि प्रमाद के कारण मनुष्य उनके अनुसार आचरण नहीं करता तो दूसरे की गाएं गिनने वाले ग्वाले के समान वह श्रमणत्व का भागी नहीं होता।'

और निकट का वाराणसी में भगवान बुद्ध ने बार बार बोधिसत्व के रूप में जन्म धारण किया था। बोधगया कुछ पूर्व की ओर है। वह विशाल अश्वत्थ अब भी पुकारकर कह रहा है कि मेरी ही छाया में भगवान ने बोध प्राप्त किया था।

यही तो यह वैशाली भी है, जिसके पास एक पहाड़ी पर खड़े होकर देह त्याग से कुछ ही पूर्व भगवान ने अपने चैत्य मंदिरों और विहारों को देखकर आनन्द से कहा था, 'चित्रं जम्बूद्वीपं मनोरमं जीवितं मनुष्याणाम्।' अर्थात्, यह भारतवर्ष कितना सुन्दर है! यहां के मनुष्यों का जीवन मन को रमा लेनेवाला है।

इसी वैशाली के पास एक गांव में भगवान महावीर का भी जन्म हुआ था। महावीर ने 'अहिंसा परमोधर्म' की शिक्षा दी और कहा कि पाप की जिम्मेदारी सिर्फ पाप न करने से पूरी नहीं होती। पाप न तो किया जाए, न कराया जाए और न उसमें किसी प्रकार की सहायता की जाए तभी मनुष्य उसकी जिम्मेदारी से मुक्त हो सकता है। पाप के साथ पूर्ण असहकार होना चाहिए।

अशोक से चिश्ती तक

यह निकट ही पाटलिपुत्र भी देख लीजिए जिसे आजकल पटना कहा जाता

है। यही हमारे प्रातः स्मरणीय सम्राट अशोक की राजधानी थी। यहीं उनके दादा चन्द्रगुप्त मौर्य ने भी राज्य किया था। सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की राजधानी भी यहीं थी। उस समय दिल्ली का विशेष महत्त्व नहीं था।

ये, इधर नालन्दा विश्वविद्यालय के भग्नावशेष हैं। इस विश्वविद्यालय में दूर विदेश से हजारों विद्यार्थी आकर विद्याध्ययन किया करते थे।

जैन तीर्थंकरों के प्रसिद्ध मन्दिर भारत के इस पश्चिमी भाग में हैं। यह आबू पर्वत है। इसपर बने जैन मन्दिरों के अनुपम शिल्प-सौन्दर्य को देखने के लिए संसार भर से यात्री आते हैं। इसके उत्तर की ओर यह महारानी पद्मिनी और राणाप्रताप का चित्तौरगढ़ है। यहां की भूमि से अब भी पद्मिनी के रक्त की सुगंध आती है। गांधीजी ने इसे स्वतन्त्र कराकर महाराणा की प्रतिज्ञा पूर्ण कर दी है।

ख्वाजा चिश्ती साहब की दरगाह इस अजमेर में है, जिसके पास पुष्कर तीर्थ है। चिश्ती साहब यहां आराम करते-करते मुसलमानों और हिन्दुओं को अपने भेद भाव मिटाकर भाई भाई जैसे रहने की प्रेरणा देते रहते हैं। प्रति वर्ष हजारों हिन्दू और मुसलमान उनकी दरगाह पर आकर उनका आशीर्वाद लेते हैं और भले मनुष्य बनने का प्रयत्न करते हैं।

वीरभोग्या दिल्ली और पंजाब भूमि

दिल्ली तो आपको बतानी न होगी। कौरव पांडवों के हस्तिनापुर और इन्द्रप्रस्थ के जमाने से आज तक यहां जो राजनीतिक उथल-पुथल होती रही उससे आप परिचित हैं। यहीं भारत की एकता की कड़ियां मिलती हैं। यहीं से भारत के शासन का, नव निर्माण का सूत्र संचालन होता है। यह भारत की राजधानी या यों कहिए कि, प्रजाधानी है। यहीं सिक्खों के महान गुरु श्री तेगबहादुर का सिर उतारा गया था, परन्तु वे अब भी अपने शिष्यों को—सिक्खों को—बलों हो प्रेरणा देते रहते हैं। उनके स्मारक के रूप में यहां एक विशाल गुरुद्वारा बना हुआ है, जिसे शीशगंज गुरुद्वारा कहते हैं। सिक्ख और हिन्दू उसमें आकर वीरता, भक्ति और सञ्जीवन का संदेश पाते हैं। यहीं वह कुतुबमीनार भी है, जिसके बारे में आपने पुस्तकों में पढ़ा है। जब-कभी आप दिल्ली आएं, उसे जरूर देखें। चिश्ती साहब की दरगाह के समान ही यहां भी ख्वाजा निजामुद्दीन साहब औलिया की दरगाह है।

अब जरा उत्तर की ओर चलिए। यह पजाब है और इसम यह अमृतसर है। यहा सिखो का सबसे बडा गुरुद्वारा है। यह सिखो के सगठन, शक्ति और धार्मिक प्रेरणा का अब भारत मे सबसे बडा केन्द्र है। दुर्गा का भी एक बहुत बडा मन्दिर यहा है। हिन्दू और सिख इस नगर में बडे प्रेम से हिल मिलकर रहते हैं।

ऋषि-मुनियो के आश्रय स्थल

हिमालय, विन्ध्याचल सह्याद्रि, नीलगिरि और अरुणाचलम की गुफाओ ने कितने ऋषि-मुनियो को आश्रय दिया है! अरुणाचलम मे तो अभी-अभी महर्षि रमण के दर्शन सुलभ थे। उनका आश्रम आज भी उनकी दिव्य वाणी से मुखरित है। यह कुछ दक्षिण की ओर योगिराज श्री अरविन्द की तपोभूमि पाडिचेरी है। तिरुकुरल जसे महान धमग्रन्थ और आलवारो की जन्मभूमि तमिलनाडु यही है। महाकवि भारती का पावन सगीत अभी कुछ वर्ष पूर्व तक इस प्रदेश म गूजता था।

थोडा पश्चिम की ओर यह दक्षिण का मनोरम और सचेतन प्रदेश केरल है। इसके इस कालडी ग्राम मे जगद्गुरु आदिशकराचार्य ने जन्म लिया था। उत्तर मे जिस तरह बगाल साहित्य और कला का घर है उसी तरह दक्षिण म यह प्रदेश है। यहा अब भी मातृ-वश की प्रथा चलती है।

मसूर और कर्नाटक के जन मन्दिरो और प्राकृतिक छटा को तो आप भुला ही नही सकते। यहा लोग के प्रताप ही ऐसे हैं जिनकी ऊचाई की बराबरी दुनिया का कोई प्रताप नही कर पाता। इस मनोरम प्रदेश म सगीत का जो अनुपम विकास हुआ वह न होता तो आश्चय की बात होती। आन्ध्र प्रदेश की प्राचीन कला यहा के मन्दिरो और खडहरो से बोलती है। उडीसा म आपने पुरी का दर्शन तो किया परन्तु कोणाक का सूय मन्दिर देखना कस भूल गए? और, फिर पश्चिम की ओर गोआ की प्रकृति छटा तथा वहा का दूध-सागर प्रपात आपने देखा है? यदि नही देखा तो उसे देखने के लिए ही एक बार गोआ हो आइए।

जहा साधु सन्तो ने देशभक्ति सिखाई

यह सत भूमि, लोकमान्य तिलक और छत्रपति शिवाजी की रगस्थली महाराष्ट्र है। यहा के लोग सतो के नाम का भी कीतन करते हैं

निवृत्ति ज्ञानदेव सोपान मुक्ताबाइ
एकनाथ नामदेव तुकाराम।
तुकाराम, तुकाराम ॥

चैतन्यदेव के बंगाल ने इस युग में भी ऋषि महर्षियों का जन्म दिया है। श्री रामकृष्ण परमहंस स्वामी विवेकानन्द और महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर तो इस युग की विभूति हैं ही गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर श्री सुभाषचन्द्र वसु और विपिनचन्द्र पाल भी इसी युग को धन्य कर गए हैं। राजा राममोहन राय को तो भूला ही नहीं जा सकता।

इससे आगे असम नेफा त्रिपुरा, मणिपुर, नागालैंड आदि हैं। ये सब हमारी पूर्वोत्तरीय सीमा के प्रहरी हैं। इनका स्नेह और आतिथ्य विभोर कर देनेवाला है। परन्तु ये बड़े संकट में रहते हैं।

जिस प्रदेश में हमने कृष्ण भगवान की द्वारका नगरी देखी थी, उसीमें सोमनाथ का मंदिर भी है जिसे अभी फिर से बना दिया गया है। परन्तु इसका महत्त्व कम कैसे माना जाए कि इसी प्रदेश के पोरबन्दर—या सुदामापुरी—में युग प्रवर्तक गांधीजी का जन्म हुआ था और इसी प्रदेश के साबरमती आश्रम में वे १५ १६ वर्ष तक रहे थे। और इसी प्रदेश में सरदार पटेल और बुजुर्ग जवान श्री अब्बास तैयबजी ने भी काम किया था। यह प्रदेश उतना ही पवित्र है जितना कि काशी, प्रयाग, मदनमोहन मालवीय और जवाहरलाल नेहरू का उत्तर प्रदेश।

जीवनदायिनी सरिताएं

गंगा, यमुना नर्मदा, गोदावरी और कावेरी तो अनादि काल से इस भूमि को अनुगृहीत कर रही हैं। अपना जीवन समस्त भूमि को वितरित कर उन्होंने उसे जीवन्त, स्पष्ट और अभिराम बनाया है। उनका उपकार स्वीकार करके उन्हें प्रणाम कीजिए और उनसे अधिकाधिक वरदान मांगिए।

यह है गांधीजी की कुटिया

कलकत्ता, बम्बई मद्रास आदि बड़े बड़े नगरों को नमस्कार करके अब हम जरा देश के मध्यवर्ती इन दो छोटे छोटे गांवों की ओर नजर दौड़ाएं—यह है सेवाग्राम। यहां इस कुटिया में, अभी अभी तक एक विश्वव्यापिनी वाणी सुनाई

पडती थी जिसस पीडिता का बल मिलता था और अत्याचारी अतमुख हो जाते थ। इसम उस विभूति का निवास था, जिसने लोह बारूद और परमाणु के अस्त्रो की व्यर्थता सिद्ध करके उनका तिरस्कार करके, *सत्य और अहिंसा के नये तथा क्रातिकारी प्रयोग* स शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य का भारत म नाम शेष कर दिया। उसका आत्मबल अतुलनीय था दिव्य था। उस विश्व मोहनदास करमचन्द गाधी क नाम स पहचानता है।

यह जो दूसरा आश्रम कुछ ही किलोमीटरो की दूरी पर है, जिससे लगकर सेठ जमनालाल बजाज के पवित्र नाम का गान करती हुई पवनार नदी बह रही है *परधाम नाम से प्रसिद्ध है। यह महात्मा गाधी के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी* आचार्य विनोबा का आश्रम है। यहा विनोबा ने दीर्घ काल तक उग्र तपस्या की है। यह तपोपूत है।

और यह है उनकी समाधि

एक बार फिर दिल्ली लौट चलें। देखिए, यह राजघाट है। यहा तीन समाधिया दिखाई दती ह। इनम स पहली सेवाग्राम की विभूति की है। दिल्ली को इसलिए भी याद रखा जाएगा कि यही इस विभूति का हत्या की गई थी। जिसने सारे ससार को अहिंसा का पाठ पढाया था उसक प्राण हिंसा से हर गए। भगवान महावीर पर एक गाव क लागो न खूखार कुत्ते छोड दिए थ। कुत्तो न उन्ह जगह जगह काट कर बहुत घायल कर दिया था, परन्तु उन्होन कुत्तो पर हाथ नहा उठाया। गाव क लागा का भी क्षमा करक लज्जा और पश्चाताप की अग्नि से शुद्ध होने के लिए छोड दिया। भगवान ईसा को जब सूली दी गई उससे पहले ही उन्होने आततायियो का क्षमा कर दिया था और परमात्मा से भी उन्ह क्षमा कर दन की प्रार्थना की थी। उन्होन प्रार्थना म कहा, "प्रभो, इन्ह क्षमा कर दो, य जानते नहो कि य क्या कर रहे हैं।" गाधीजी न पैरो पर झुके हुए भ्रान्त युवक को आशीर्वाद दिया और फिर उसकी गोलियो से घायल होकर, "हे राम!" कहकर चोला छोड दिया। भारतमाता ने यह भी सहा।

शिष्यो और साथियो की समाधिया

दूसरी समाधि देश के प्यारे नेता राजर्षि जवाहरलाल नेहरू की है, जिन्होने

गांधीजी के बाद देश को संभाला, उसकी स्वाधीनता पुष्ट की, उसे नव निर्माण की दृष्टि दी और उसे उस मार्ग पर अग्रसर कर दिया।

तीसरी अभी गीली ही है। यह एक राजनीतिक संत की है, जो लालबहादुर शास्त्री के नाम से पहचाना जाता है। इसने भारत तथा विश्व में शान्ति स्थापना के प्रयत्न करते हुए ताशकन्द में अपनी आहुति दे दी। यह प्रणम्य है।

इसी शहर में हकीम अजमल खां, डाक्टर अन्सारी और स्वामी श्रद्धानन्द ने भी अपना चोला छोड़ा था। मौलाना अबुल कलाम आज़ाद का मकबरा भी बादशाह शाहजहां के लाल किले और जामा मसजिद के बीच में बना है।

सर्वधर्म-समभाव का प्रतीक कश्मीर

गुरु नानक की भक्ति से तर, गुरु गोविन्दसिंह की शिक्षाओं से अनुगृहीत और लाला लाजपत राय की सेवाओं से निखरी हुई पंजाब की वीरभूमि को पार करके हिमाचल श्रेणी की उपत्यकाओं में फैले हुए इस नन्दनकानन कश्मीर की यात्रा करने तो दुनिया भर से लोग आया करते हैं, आप भी क्यों न चलें? प्रकृति के इस सौन्दर्य भंडार में जो ये चलते फिरते फूल जैसे दिखाई देते हैं, यहां के बालक बालिका हैं। ये भयानक दुर्दैव के मारे हुए हैं। गत १८ वर्षों में यहां दो बार सैनिक आक्रमण हुए। बीच-बीच में भी कुछ भ्रान्त और स्वार्थी लोगों ने इन्हें चैन से रहने नहीं दिया। आक्रमणों में बहुत-से पुरुष मारे गए, स्त्रियों का अपहरण हुआ, सम्पत्ति जलाई और लूटी गई। इनमें से बहुत-से बच्चे अनाथ और बेघर-बार हो गए हैं। यह प्रदेश भारत के सर्वधर्म-समभाव या 'सेक्युलर राज्य-व्यवस्था' का जीवित-जाग्रत प्रतीक है। परन्तु ऐसा लगता है कि दुनिया के कुछ राजनीतिज्ञ यहां की जनता के कष्टों से आनन्द पाते हैं, उसे शान्ति से नहीं रहने देना चाहते। गरीबी ही यहां की बरकत है।

दुर्दैवी लद्दाख

आप पूछते हैं, पाकिस्तान से युद्ध तो बन्द हो गया, सब सेनाएं अपनी अपनी पुरानी जगहों में हट गईं, फिर भी हमारी ये सेनाएं कहां आ-जा रही हैं? सुनिए यह जो कश्मीर के उत्तर का भाग है, इसे लद्दाख कहते हैं। इसपर बहुत दिनों से चीन की नज़र लगी हुई है। वह रह रहकर इस दुर्दैवी प्रदेश के हिस्सों पर

पड़ती थी, जिसमें पीड़ितों को बल मिलता था और अत्याचारी अन्तर्मुख हो जाते थे। इसमें उस विभूति का निवास था जिसने लोहे, बारूद और परमाणु के अस्त्रों की व्यर्थता सिद्ध करके उनका तिरस्कार करके, सत्य और अहिंसा के नये तथा क्रांतिकारी प्रयोग में शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य का भारत में नाम शेष कर दिया। उसका आत्मबल अतुलनीय था दिव्य था। उसे विश्व मोहनदास करमचन्द गांधी के नाम से पहचानता है।

यह जो दूसरा आश्रम कुछ ही किलोमीटरों की दूरी पर है, जिससे लगकर सेठ जमनालाल बजाज के पवित्र नाम का गान करती हुई पवनार नदी बह रही है, परधाम नाम से प्रसिद्ध है। यह महात्मा गांधी के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी आचार्य विनोबा का आश्रम है। यहां विनोबा ने दीर्घ काल तक उग्र तपस्या की है। यह तपोपूत है।

और यह है उनकी समाधि

एक बार फिर दिल्ली लौट चलें। देखिए यह राजघाट है। यहां तीन समाधियां दिखाई देती हैं। इनमें से पहली सेवाग्राम की विभूति की है। दिल्ली को इसलिए ना याद रखा जाएगा कि यहीं इस विभूति की हत्या की गई थी। जिसने सारे संसार को अहिंसा का पाठ पढ़ाया था उसके प्राण हिंसा से हरे गए। भगवान महावीर पर एक गांव के लोगों ने खूंख्वार कुत्ते छोड़ दिए थे। कुत्तों ने उन्हें जगह-जगह काट कर बहुत घायल कर दिया था, परन्तु उन्होंने कुत्तों पर हाथ नहीं उठाया। गांव के लोगों को भी क्षमा करके सज्जा और पश्चात्ताप की अग्नि में शुद्ध होने के लिए छोड़ दिया। भगवान ईसा को जब सूली दी गई उसके पहले ही उन्होंने आततायियों को क्षमा कर दिया था और परमात्मा से भी उन्हें क्षमा कर देने की प्रार्थना की थी। उन्होंने प्रार्थना में कहा, 'प्रभो इन्हें क्षमा कर दो, ये जानते नहीं कि ये क्या कर रहे हैं।' गांधीजी ने पैरों पर झुके हुए भ्रान्त युवक को आशीर्वाद दिया और फिर उसकी गोलियों से घायल होकर, "हे राम!" कहकर चोला छोड़ दिया। भारतमाता ने यह भी सहा।

शिष्य और साथियों की समाधियां

दूसरी समाधि देश के प्यारे नेता राजर्षि जवाहरलाल नेहरू की है जिन्होंने

गांधीजी के बाद देश को सभाला, उसकी स्वाधीनता पुष्ट की उसे नव निर्माण की दृष्टि दी और उसे उस मार्ग पर अग्रसर कर दिया।

तीसरी अभी गीली ही है। यह एक राजनीतिक सत की है, जो लालबहादुर शास्त्री के नाम से पहचाना जाता है। इसने भारत तथा विश्व मे शान्ति स्थापना के प्रयत्न करते हुए ताशकन्द मे अपनी आहुति दे दी। वह प्रणम्य है।

इसी धरोहर मे हकीम अजमल खा, डाक्टर अन्सारी और स्वामी श्रद्धानन्द ने भी अपना चोला छोडा था। मौलाना अबुल कलाम आजाद का मकबरा भी बादशाह शाहजहा के लाल किले और जामा मसजिद के बीच म बना है।

सर्वधर्म-समभाव का प्रतीक कश्मीर

गुरु नानक की भक्ति से तर, गुरु गोविन्दसिंह की शिक्षाओ से अनुगृहीत और लाला लाजपत राय की सेवाओ से निखरी हुई पजाब की वीरभूमि को पार करके हिमाचल श्रेणी की उपत्यकाओ मे फले हुए इस नन्दनकानन कश्मीर की यात्रा करने तो दुनिया भर स लोग आया करते हैं आप भी क्या न चलें ? प्रकृति के इस सौन्दर्य भडार मे जो ये चलते फिरते फूल जैसे दिखाई देते हैं यहा के बालक बालिका हैं। ये भयानक दुर्दैव के मारे हुए हैं। गत १८ वर्षों म यहा दो पाशविक आक्रमण हुए। बीच बीच म भी कुछ भ्रान्त और स्वार्थी लोगो ने इन्हे चैन से रहने नही दिया। आक्रमणो म बहुत-से पुरुष मारे गए, स्त्रियो का अपहरण हुआ, सम्पत्ति जलाई और लूटी गई। इनम से बहुत-से बच्चे अनाथ और बेघर बार हो गए हैं। यह प्रदेश भारत के सर्वधर्म-समभाव या 'सेक्युलर राज्य व्यवस्था' का जीवित-जाग्रत प्रतीक है। परन्तु ऐसा लगता है कि दुनिया के कुछ राजनीतिज्ञ मनुष्य की जनता के कष्टो से आनन्द पाते हैं उसे शान्ति से नही रहने देना चाहते। गरीबी ही यहा की बरकत है।

दुर्दैवी लद्दाख

आप पूछते हैं पाकिस्तान स युद्ध तो बन्द हो गया सब सेनाए अपनी अपनी पुरानी जगहो म हट गई, फिर भी हमारी ये सेनाए कहा आ-जा रही हैं ? सुनिए यह जो कश्मीर के उत्तर का भाग है इसे लद्दाख कहते हैं। इसपर बहुत दिनो से चीन की नजर लगी हुई है। वह रह रहकर इस दुर्दैवी प्रदेश के हिस्सो पर

आक्रमण भी करता रहता है। इसलिए हम इसकी रक्षा के लिए बराबर यहा सेना रखनी पडती है। यहा की जनता बौद्ध धर्मावलम्बी है लडना भिडना नहा जानती। पहाडो और बर्फ के कारण यहा उपज भी ज्यादा नही होती, इसलिए गरीबी भी बहुत है।

इसी तरह का गरीब प्रदेश यह है, जिसे हिमाचल प्रदेश कहत हैं। परन्तु यहा अपनी सरकार है। ये लोग अपना साधारण कामकाज स्वय देखते हैं। दक्षिण म, मसूर के पास छोटा सा कुर्ग प्रदेश भी है, जिसके दो सपूत हमारे प्रधान सेनापति रहे है।

आत्मा माग करती है

यह है हमारी भारतमाता—४० करोड हिन्द, मुसलमान, ईसाई, सिख, पारसी और यहूदियो की माता, नही ४० करोड भारतीयो की माता। भारत माता ने अपनी सतान की दुर्बलता, निष्क्रियता दुर्बुद्धि और पारस्परिक कलह के कारण बहुत दु ख भोगा है। अब वह माग करती है कि

सब हृदय स एक हो जाओ, सब्चे भाई बन्द जसे रहो।
पूरी शक्ति से और उचित ढग से परिश्रम करो।
सब की भलाई म हरएक की और हरएक की भलाई म सबकी भलाई देखो।
कतव्य को अधिकार के पहले रखो।
सत्य न्याय और प्रेम को अपना गुरुमत्र बनाओ।

दो

यह हमारी विरासत

भारत की भूमि सहज उवरा है, शस्य श्यामला है। परती भूमि म भी दाने छिटका देने मे कुछ न कुछ उपज हो ही जाती है। परन्तु खाद-पानी पाने पर तो वह सोना उगलती है। किसान बहुत परिश्रमी हैं। वे अपनी फसल की वत्सल पिता क समान सेवा करते हैं, और पकने पर जो कुछ मिल जाता है उससे सतुष्ट हो जाते हैं। अपने शरीर को तोडकर, अपने पट को काटकर सारे देश का उदर पोषण करने वाले य अन्नदाता हमारे स्नेह और आदर के पात्र हैं।

गावो और किसानो का देश

परन्तु विदशी आधिपत्य के पिछले सौ डेढ सौ वर्षों मे य जितने उपेक्षित रहे हैं और इनको जो-जो कष्ट उठाने पडे हैं, उनका वणन करना कठिन है। भूमि कानून, जमीदारी प्रथा गाव का साहूकार सामाजिक प्रथाए, पानी, खाद बीज आदि की दुलभता, अतिवृष्टि और अनावृष्टि—सभी का कोप अकेले इन्हें ही तो सहना पडा। स्वाधीनता क बाद स्थिति मे कुछ सुधार हो रहा है फिर भी नगरों और बडे उद्योगो की ओर जितना ध्यान दिया गया उतना इनकी ओर नही दिया गया। परिणाम यह है कि स्वाधीनता क इतने वष बाद भी हम अपनी जरूरत के लिए पूरा अनाज पदा नहीं कर पाते, और हम अरबो रुपयो का अनाज बाहर स खरीदना पडता है।

व्यक्तिगत रूप मे भारतीय किसान का आदर हुआ हो या न हुआ हो, हम सब किसी न किसी पीढी म किसानो क घर ही जन्मे थे, और हमारे खून मे किसानी भिदी हुई है। इसलिए आज भी हम सामूहिक रूप म किसानों का गुण गाते हैं, आभार मानते हैं। हमारी सस्कृति और सभ्यता भी किसान सस्कृति और सभ्यता है जिसम स्वावलम्बन, स्वाभिमान, अतिथि-सत्कार, उदारता, समपण भाव,

आत्मसंतोष, आत्मसंयम त्याग और श्रद्धा विश्वास दूध और पानी जैसे मिले हुए हैं। भारत इतने दीर्घकाल जीवित रहा और भयानक संकटों के आने पर भी दूसरे देशों के समान नष्ट नहीं हो गया इसका मुख्य श्रेय इस सभ्यता का ही है।

कला कौशल उद्योग-व्यापार

उद्योग धंधा और व्यापार में भी भारतीय कुशल माने जाते थे। शताब्दियों पूर्व उनकी होड़ में टिकने वाला कोई नहीं था। एशिया, अफ्रीका और यूरोप के विभिन्न देशों को जल तथा थल मार्ग से भारतीय माल जाता था। शासक उद्योग व्यापार को प्रोत्साहन देते थे। भारत अपनी समृद्धि के कारण 'स्वर्ण भूमि', 'सोने की चिड़िया' आदि नामों से प्रसिद्ध हो गया था। विदेशों के बहुत-से व्यापारी यहां आकर बस गए थे। उनके वंशज आज भी पाए जाते हैं। पुर्तगाली डच, फ्रांसीसी और अंग्रेज भी पहले पहल व्यापारी बनकर ही इस देश में आए थे।

कला-कौशल और ज्ञान विज्ञान आनुवंशिक सम्पदा के रूप में भारतीयों को मिलता था।

अजंता और एलोरा की गुफाएं सारे देश में सिर ऊंचा उठाए खड़े हुए मंदिर, तरह-तरह के खंडहर सर्वांगीण प्राचीन साहित्य—सब पुकार-पुकारकर अपने अपने युग की उन्नति का बखान कर रहे हैं।

विद्या और साधना

दर्शन व्याकरण, ज्योतिष गणित आदि विषयों में तो संसार भारत को अपना गुरु और प्रेरणादाता मानता था। वेदों उपनिषदों पुराणों रामायण महाभारत और महाभारत के ही प्रकरण भगवद्गीता की ओर विश्व के मनीषी आश्चर्य भरी दृष्टि से देखते हैं। बौद्ध और जैन साहित्य की उत्कृष्टता, और गहनता के साथ मिली हुई सरलता आश्चर्यजनक है। कालिदास का अभिज्ञान शाकुन्तल' अब भी विद्वानों के कौतूहल का विषय है।

धार्मिक विवेचना और साधना में विचार और आचार में, भारतीय ऋषि-मुनियों साधु-संतों धर्माचार्यों और योगियों के समकक्ष दुनिया में कितने महापुरुष

हैं ? जनक युधिष्ठिर अम्बरीष भर्तृहरि जैसे धर्म परायण राजा और कितने ही मे हुए हैं ? दूसरी ओर, इसी देश में कसाई गुरु भी हुए। धर्म छोटे बड़े ऊँच-नीच, शिक्षित अशिक्षित, स्त्री पुरुष, बाल वृद्ध सबके लिए है। सब अपनी-अपनी मर्यादाओं के अनुसार उसे समझ सकते हैं उसका पालन करके अपना और पर का कल्याण कर सकते हैं। हमें शिक्षा दी गई है कि अर्थ और काम की प्राप्ति धर्म से ही होनी है मोक्ष की प्राप्ति तो धर्म से होती ही है। इसलिए धर्म के काम में त्रुटि न करो। धर्म से ही सब कार्य धर्मपूर्वक करो।

अहिंसा विश्व को भारत की विशेष देन है। सत्य का महत्त्व भी भारत में जितना विकसित हुआ उतना अन्यत्र नहीं हो पाया। इस युग में भी महात्मा गांधी ने इन दोनों की अनुपम और अपार शक्ति सिद्ध कर दी है। योग और ध्यान भजन और कीर्तन, पूजन और अर्चन, मन्त्र और योग आदि भी भारत की विशेष देन हैं। संस्कृत उसकी 'देववाणी' है।

सर्वधर्म समभाव

हिन्दू धर्म सब धर्मों के आदि आचार्यों पैगम्बरों प्रवर्तकों का आदर की दृष्टि से देखना सिखाता है। बुद्ध, महावीर, ईसा मुहम्मद, जरथुस्त्र नानक तथा अन्य सिख गुरुओं को ईश्वरीय विभूति मानने में हिन्दुओं को सतोष होता है। मध्यकाल में सूफी संतों ने धर्म समन्वय का जो कार्य किया वह हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति के अनुकूल पड़ता था, इसलिए हिन्दुओं ने उन मतों को उसी तरह अपनाया जैसे मुसलमानों या अन्य धर्मावलम्बियों ने। उनकी शिक्षा हिन्दुओं के जीवन में ओतप्रोत हो गई है। कबीर की वाणी हिन्दू मानस में अमर, अमन्द है। उदाहरण के लिए, उनका निम्नलिखित पद हिन्दुओं के लिए धर्म-वाक्य जैसा है

दुइ जगदीस कहा ते आये कहु कौन भरमाया।
अल्ला राम, करीमा केसो, हरि हजरत नाम धराया।।
गहना एक कनक ते गहना, तामे भाव न दूजा।
कहन सुनन को दुइ कर थापे यक नेवाज यक पूजा।।
वही महादेव वही मुहम्मद, ब्रह्मा आदम कहिए।
कोइ हिन्दू कोइ तुरक कहावे, एक जमी पर रहिए।।
वेद किताब पढ़े वे कुतुबा वे मौलाना व पाँडे।

तीन

जीवन के चढाव-उतार

वेदो और रामायण के काल म भारत एक था। तब से अब तक वह एक रहा। छोटे-बड़े क्षेत्रो वर्गो म अलग अलग जीवन व्यतीत करत हुए भी हम सब भारतीय होन का गौरव मानते रहे। भारत एक विराट राष्ट्र है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य क्षेत्र स्वातन्त्र्य जाति-स्वातन्त्र्य धर्म स्वातन्त्र्य वर्ग-स्वातन्त्र्य आदि सब प्रकार के स्वातन्त्र्य को स्वीकार करता हुआ भी वह चिरकाल से एक राष्ट्र रहा है। विविधता म एकता अथवा अद्वैत उसकी जीवन परम्परा और जीवन दर्शन का आधार है। पर तु भारत के क्षेत्रीय राजाओ की नीति और शासन व्यवस्था म समय समय पर जो अच्छा या बुरा परिवर्तन हुआ उससे राष्ट्र का जीवन भी उसी तरह बदलता गया।

उतार का काल

ऋग्वेद कालकी सभा समितियो और बौद्धकाल की गणतन्त्र प्रणाली के स्थान पर धीरे धीरे निरकुश राजतन्त्र अपनी जड़ें जमाता गया। एक ओर हम कौरव पाण्डव चन्द्रगुप्त मौर्य सम्राट अशोक चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और सम्राट हर्षवर्धन के नाम इतिहास म हीरो के समान जड़े हुए दिखलाई देते हैं, दूसरी ओर महाराज हर्षवर्धन के बाद का दयनीय काल दृष्टिगत होता है, जिसम विभिन्न राजा लोग राज पद और सामान्य लोभ के कारण अथवा पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष के कारण, एक दूसरे से लडत रहने म ही बडप्पन मानत थे और प्रजा के हिताहित की ओर ध्यान ही नहीं देते थे। उनम जयचन्द आदि कुछ राजा तो ऐसे भी हुए, जिन्होंने अपने विरोधी भारतीय राजा को जीतने या नीचा दिखाने के लिए विदेशी आक्रमणकारियो को भी आमन्त्रित किया।

तु भारतीय जनता फिर भी सरलता से पराजित नहीं हुई। उसने अपनी

भारतीयता—राष्ट्रीयता—म तो बट्टा लगने दिया ही नही, एक दूसरे स अपन सम्बन्ध पूववत मीठे बनाए रखे। ऐसे अधम राजाओ को उसने क्षमा भी नही किया। जयचन्द जसे जितन लोगो न देशद्रोह किया उन सबको तिरस्कार क पात्र समझा गया और भारतीय भाषाओ मे उनके नाम देशद्रोहियो के पर्यायवाची बन गए। दूसरी ओर, जनता न अपनी गणतन्त्र प्रणाली को भी मिटने नही दिया। छोटे छोटे गावो मे भी तरह तरह की पचायत कायम रही और अपने अपन क्षेत्र के राजनीतिक आर्थिक सामाजिक तथा धार्मिक जीवन को सभालती रही। बाहर के देशो स अनेक बार अनेक लोग बलपूवक भारत म आए। उनमे से कुछ न यहा की सस्कृति और सभ्यता क स्थान पर अपनी सस्कृति और सभ्यता के पौध रोपन के प्रयत्न किए। परन्तु सदियो के प्रयत्नो के बाद भी यहा के गावो तक उनका अधिक असर नही पहुचा। उनकी जीवन व्यवस्था लगभग वसी ही चलती रही। बहुधा एक परिणाम अवश्य हुआ—भारत की सस्कृति और सभ्यता के आकषण म आकर विदेशी लोग अपना विदेशीपन खो बठे, व भारत के अपने नागरिक बन कर रहने लगे, और पूणत यहा के समाज म घुल मिल गए।

परन्तु यह स्थिति सदा तो नही चल सकती थी। देशी राजाओ की सदा वर्द्धिगत निरकुशता और कूप मडूकता तथा बाहर से आने वालो की उग्रता और आक्रमणशीलता का बार बार सामना करते-करते जनता का मनोबल क्षीण होता गया, पुरान जीवन मूल्यो म क्रमश परिवतन होता गया, पारस्परिक सहयोग द्वारा समृद्धि प्राप्त करने के माग म रुकावटें आती गई और, इस प्रकार, क्रूर काल क चक्र म पडकर, जनता नये काय आरम्भ करन तथा पुरानो को सभालने की वृत्ति और उत्साह खो बठी।

मन के हारे हार है

मनोबल क्षीण हो जाने पर मनुष्य सब प्रकार की दुबलताओ और बुराइयो का शिकार होने लगता है। अपनी रक्षा के लिए दूसरे को सकट म डाल देना, अपन सुख और स्वाथ के लिए पराक्रम का माग छोडकर दूसरो से—कमजोरो से—छीना झपटी कर लेना, त्याग और आत्मसयम पर आधारित चारित्र्य से विमुख होकर जसे भी हो वसे अपना काम साध लेना, केवल अपनी सोचना और दूसरो की परवाह न करना, हार मानकर धम से विरक्त हो जाना, भाग्य के भरोसे बठ

रहना, दूसरों के सुख-दुःख के प्रति जड बन जाना, अधम अपराधों में निरत हो जाना और, इस सब पर, आत्मा की कचोट को महसूस न करना, अपने-आप को पुण्यात्मा दिखाने के प्रयत्न करना तथा इस तरह के कामों को उचित सिद्ध करना—यह सब दुर्बल मन के व्यक्ति के लिए स्वाभाविक हो जाता है। निरंकुश राजाओं के राज्यों में और पराधीनता के काल में उच्च तथा मध्यम वर्ग के लोगों में ये सब बुराइयां आईं और उनसे छन छनकर कुछ मात्रा में निम्न वर्ग के लोगों में भी पहुंचीं। परिणामत, धार्मिक जीवन पाखंडयुक्त बन गया। नये विचारों, अनुसंधान, शिक्षा, विज्ञान आदि जीवन पोषक जीवन संवर्धक और प्रगतिकारी प्रवृत्तियों की ओर से लोगों का मन हटने लगा। ऊंच-नीच का भाव प्रबल हुआ और समाज छोटे छोटे, परस्पर अछूते और क्षुद्र घेरों में बटने लगा, स्वार्थ मूलक अन्याय तथा अत्याचारों के विरुद्ध आत्मरक्षा का संघर्ष प्रबल हो उठा। छुआछूत का बोलबाला हुआ, वैभव और अभाव का अंतर बढ़ता ही चला गया। स्वार्थ सिद्ध करने वाले शासकवर्ग ने अपना शासन स्थापित और दृढ करने के लिए इन परिस्थितियों का पूरा लाभ उठाया।

सात समुद्र पार से

यूरोपियनों ने भारत में राज्य जमाने के प्रयत्न करते समय भारतीय ऐसी दुर्दशा में ग्रस्त हो गए थे कि वे यूरोपियनों को मदद करने के लिए उनकी ओर से भारतीयों के ही विरुद्ध लड़ने को तैयार थे। उस समय के अनेक भारतीय दासता ने भारतीयों के ही विरुद्ध उन्हें सहायता दी थी। जो बात यूरोप में कभी नहीं देखी गई थी उसे भारत में देखकर पांडिचेरी का फ्रांसीसी गवर्नर डूप्ले बड़ा आनन्दित हुआ था। उसने अपनी सरकार को सहायता के लिए जो पत्र लिखा था उसमें उसका एक प्रबल तर्क यह था कि भारतीय अपने ही देश के लोगों के विरुद्ध हमारे लिए युद्ध कर सकते हैं और यदि अच्छी ट्रेनिंग दी जाए तो वे हमारे ही बराबर अच्छे सैनिक भी बन सकते हैं। यह हमारा पतन हो या जीवन संघर्ष से उत्पन्न क्षणिक आवेग यूरोपीय राज्य लिप्सुओं ने इसका पूरा लाभ उठाया और इसीके बल पर अंग्रेजों ने सारे भारत पर अपना राज्य जमा लिया।

मध्ययुगीन ह्रास की अनेक शताब्दियों में मनोबल का जो क्षय हुआ, असहायता की जो भावना जागी और आत्मसंरक्षण की आवश्यकता की जो अनुभूति हुई

इन तीनों ने मिलकर भारतीयों के जीवन में कुछ ऐसी भयानक बुराइयाँ पैदा कर दीं जिनसे हमारा सर्वांगीण पतन तो हुआ ही, साथ ही हम अपने ही समाज और देश में एक-दूसरे से अलग होते गए और बाहर के लोग हमसे घृणा करने लगे और हम असभ्य तथा निचले दर्जे के लोग समझने लगे। हमारा अतीत तो भव्य था ही उसका गौरव हमने नहीं खोया उससे चिपटे रहकर अथवा कट्टरता का अवलम्बन करके हम जीवन की प्रेरणा ग्रहण करते रहे। इससे हम जीवित तो रहे परन्तु नई और वैज्ञानिक दृष्टि अपना नहीं सके। फिर असहायता के कारण हममें आलस्य का निवास हुआ जिसने अकर्मण्यता गन्दगी और तरह तरह की गन्दी आदतों को जन्म दिया और पुष्ट किया। कट्टरता के कारण हमारा धार्मिक सामाजिक और सांस्कृतिक नेतृत्व अशिक्षित और अज्ञानी पंडे-पुजारियों तथा पुरोहितों के हाथ में चला गया जिससे जीवन रक्षण में सहायता तो मिली किन्तु आवश्यक विकास में अवरोध उत्पन्न हुआ। हम छूत अछूत, जाति पाँति और अनेकानेक सामाजिक प्रथाओं और धार्मिक पाखंडों के छोटे-छोटे घेरों में सिकुड़ते चले गए तथा स्वामी विवेकानन्द के कथनानुसार केवल बटलोई में भगवान का दर्शन करने लगे।' अपने दोषों को न देखकर दूसरे के दोषों को बढ़ा चढ़ाकर देखने में ही हम महत्ता मालूम होने लगी, जिससे अपने और पराये लोगों के साथ पार्थक्य बढ़ता ही चला गया। प्राचीनता के गौरव और आत्मरक्षा के भाव ने स्त्री जाति के प्रति बहुत अत्याचार कराया। वह अशिक्षित 'सहज अपावन' परदे में घर के अन्दर बन्द और केवल चूल्हे चक्की से बंधी हुई रह गई। उसके उद्धार के लिए आधुनिक काल में अनेक मनीषियों और महर्षियों ने आवाज उठाई, परन्तु वास्तविक उद्धार तभी आरम्भ हुआ जब महात्मा गाँधी ने इस दिशा में उद्योग शुरू किया। व्यापार में भी बेईमानी आ गई। लाभ या ही बुरी चीज है किन्तु दरिद्र का लाभ तो कोई मर्यादा ही नहीं मानता। भारत दरिद्र हो गया था—धन गिने चुने लोगों के पास रह गया था। वे धनी भी पूरे धर्म भाव से उसे अर्जित नहीं करते थे। अतएव उन धनिकों को ठग लेने में शायद दरिद्र लोग कोई पाप नहीं समझते थे। अंग्रेजों के काल में यह बेईमानी खास तौर से बढ़ी। इसका एक कारण यह था कि अंग्रेजों ने धन का आदर बहुत बढ़ा दिया। धनिकों के प्रति प्रेम भी लोगों का नहीं होता था—या तो घृणा होती थी, या आतंक और ईर्ष्या-द्वेष। फिर, जिनके प्रति प्रेम नहीं उनके साथ धर्ममय व्यवहार की आवश्यकता क्या

विकसित होती ? प्राचीन गौरव के आधार पर हमारी अहम्मन्यता की भी कोई सीमा नहीं थी। आज हम इसे स्वत्व या 'इंडिवीजुएलिटी' कहना पसन्द करते हैं। विकास के दूसरे गुण खो देने और फिर भी अहम्मन्यता का पोषण करने के कारण भी हम एक-दूसरे से और विदेशियों से अलग होते रहे। विदेशी शासकों ने हमारी इन दुर्बलताओं का यथेष्ट पोषण किया और लाभ उठाया।

अंग्रेजी शासन

विदेशी शासकों में अंग्रेज सबसे चतुर थे। उन्होंने ताड़ लिया कि जो भारत इतना गिरा हुआ दिखाई देता है उसकी आत्मा अब भी सबल है, अतएव यदि उसे हम अपने वश में न कर लें या बिलकुल कुचल न डालें, तो इस देश में रह न पाएंगे। उन्होंने देखा कि यह कोई साधारण देश नहीं है—सभ्यता और संस्कृति, राजनीति और धर्मशास्त्र, दर्शन और विज्ञान, गणित, ज्योतिष और चिकित्सा शास्त्र, व्याकरण, साहित्य और कला, सभी में हमारा गुरु बनने योग्य है। हमने भाग्य से ही इसका राज्य पा लिया है और जैसे ही यहां के लोग अपनी वर्तमान मूर्छा से जागे वैसे ही हम निकाल बाहर करेंगे। इस भय से उन्होंने भारतीयों की मूर्छा कायम रहने, उन्हें सदा के लिए पंगु बना देने और अपने वश में कर लेने के उपाय किए।

सबसे पहले भारतीयों को शस्त्रहीन किया गया। बाद में उनके उद्योग धंधे नष्ट करके और उनकी सम्पत्ति निचोड़कर उन्हें आर्थिक दृष्टि से दीन और पराव-लम्बी, नौकर और मजदूर, लकड़हारे और पनिहारे बना देने का प्रयत्न किया गया। इसके पश्चात् उनके मानस को बदलने और शिक्षित भारतीयों को काले अंग्रेज बना देने के लिए अंग्रेजी शिक्षा शुरू की गई, जो एक ओर तो भारतीयों को मन से गुलाम बनानेवाली थी, दूसरी ओर अपना शासन चलाने के लिए इसी देश से कर्मचारी तैयार कर लेने की थी। अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों का मान बढ़ाकर उनमें दम्भ पैदा करके, देश की अपनी भाषाओं के पंडितों की उपेक्षा करके और भारतीय रहन-सहन, त्योहार वार, धार्मिक कृत्यों, सामाजिक व्यवस्था आदि के प्रति तिरस्कार उत्पन्न करके उनकी एक अलग जाति बना दी गई। वह जाति अंग्रेज शासकों की सेवा करना ही अपना धर्म मानकर देश भर में विदेशी सत्ता धंसाने तथा उसका संरक्षण करने में जुट गई। वह दोष लोगों से अपने-आपको

श्रेष्ठ मानती थी और विदेशी शासन उसके इस दंभ का पोषण करके उसे अपने हित के लिए अपने हाथ में रखते थे।

आध्यात्मिक मूल्यो के स्थान पर, जिनसे भारत की जनता को सदव बल मिला था शुद्ध भौतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा भी बढती गई।

इस सबको अपने स्वार्थों के लिए पर्याप्त न समझकर शासक वर्ग ने अलग अलग धर्म माननेवाले हिन्दुओ, मुसलमानो, ईसाइयो, सिखो, पारसियो आदि मे साम्प्रदायिक फूट डाली। प्रान्त प्रात म भी मनोमालिन्य और विरोध स्वार्थ पैदा किए जिससे सघर्ष, परस्पर निन्दा और छीना झपटी का बाजार गरम हो गया।

चार

राष्ट्र-भावना मे व्याघात

हमारी एकराष्ट्र की भावना और राष्ट्रीय उन्नति म बाधा डालनेवाली प्रत्यक्षत यही राजनीति रही। परन्तु हमारी प्राचीन धार्मिक आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था के ह्रास और सास्कृतिक पतन के जीवन स पृथक हो जाने की इसमे कोई जिम्मेदारी नही थी, यह मानना सत्य से आखें मूद लेना होगा। यदि हम अपने पूवजो की शिक्षा पर चले होत तो एसा न होता।

यदा-यदा हि धमस्य ग्लानिभवति

प्राचीन साहित्य देखने से स्पष्ट हो जाता है कि हमारा सम्पूण भौतिक और वचारिक जीवन धार्मिक तत्त्वो की नीव पर उभारा गया है। व्यास ने महाभारत मे दोना भुजाए उठाकर पुकार लगाई है

ऊध्वबाहु विरोम्येष न च कश्चित् शृणोति माम।
धर्मात् अथश्च कामश्च स धम किं न सेव्यते॥

अर्थात् मैं दोनो भुजाए उठाकर पुकार-पुकारकर कहता हू कि जिस धम स ही अथ और काम की उपलब्धि होती है उसका सेवन क्यो नही करते। परन्तु ममझ म नही आता कि मेरी पुकार किसीके भी कानो तक क्यो नही पहुचती !

वास्तव मे धम का तत्त्व इतना सूक्ष्म है कि उसके पालन के लिए सदा जाग रूक रहना आवश्यक होता है—जो जितना जागरूक रहेगा वह उतना ही उसका पालन कर सकेगा। वह सम्यक जीवन की व्यवस्था और जीवन की सम्यक व्यवस्था, दोनो है। उसे समझना भी हरएक के बस की बात नही। इसलिए उसे समझाते रहने के लिए सदा गुरुओ पुरोहितो ऋषि मुनियो की, नेता की आवश्यकता होती है। जब ऐसे मागदर्शक नही रहते तब जन-साधारण म

किन्त यविमूढता आ जाती है। यह हमारे राष्ट्रीय जीवन में सदा ही दिखाई देता रहा है। जब मार्गदर्शक नेता अथवा अवतार का प्रादुर्भाव हुआ तब धर्म की ग्लानि मिटी और उसकी पुन संस्थापना हुई। अर्थात, जब ऐसा नेता नही रहा तब धर्म की ग्लानि ही होती रही।

धर्म का पालन एक एक व्यक्ति का अलग अलग कर्तव्य होता है। उसका उद्भव और विकास भी अलग अलग मनुष्य के हृदय म अलग अलग रूप और अलग-अलग मात्रा म होता है। परन्तु उसके पालन से समस्त सृष्टि का सम्बन्ध होता है। इसलिए धर्म-पालन का आधार आत्म सयम, प्रेम, सेवा, सहिष्णुता, सत्य, अहिंसा आदि ऐसे तत्त्व होते हैं, जो स्वाभाविक बन जाने पर ही मनुष्य को स्थायी सुख प्रदान करते हैं अन्यथा मनुष्य उनके पालन म अपने प्रति जबरदस्ती महसूस करने लगता है और उनसे थककर उपेक्षा-वृत्ति स काम लेने लगता है। इन तत्त्वों को सदा जीवन्त और सतेज रखने के लिए भी मनुष्य को नेताओं की प्रेरणा की आवश्यकता होती है।

नेताओ या मार्गदर्शको की इस आवश्यकता या अनिवार्यता के कारण धर्म-प्राण भारत म वीर पूजा, व्यक्ति पूजा, विभूति पूजा की भावना इतनी प्रबल हो गई कि वह प्रत्येक सच्चे नेता म भगवान का अश स्पष्ट देखने लगता है। राजा को 'नर ईश' और ब्राह्मण को 'भू देव' की उपाधि इसीलिए प्रदान की गई।

य नेता और मार्गदर्शक मनुष्य को आध्यात्मिक उन्नति की ओर ले जाते हैं। अध्यात्म साधना और धर्म साधना परस्परावलम्बी तत्त्व हैं। परन्तु अध्यात्म-साधना सब धर्मों के मूल तत्त्वो स सम्बन्ध रखता है किसी धर्म विशेष से बधी नही होती। भारतीय जीवन म जब तक अध्यात्म साधना का महत्त्व अधिक रहा तब तक वह सुखी रहा। यह अध्यात्म साधना उन्ही सामाजिक गुणों मे व्यक्त होती थी, जिन्हे ऊपर धर्म-साधना का आधार बताया गया है। इसमे दुर्बलता आने पर हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की कड़िया भी कमजोर पड़ गइ।

वर्णाश्रम-व्यवस्था का ह्रास

भारत की समाज-व्यवस्था मे वर्ण और आश्रम की जो व्यवस्था है, भारतीय समाज की उन्नति म उसका योग अमित है। परन्तु धीरे धीरे उसका ह्रास होता

गया। आग चलकर वण व्यवस्था न सकुचित जाति प्रथा और अस्पृश्यता को उत्तेजन दिया और आश्रम व्यवस्था अधिकाशत समाज से पलायन करनेवाला और धूर्तों तथा पाखण्डियो का आश्रय स्थल बन गई। इन दोना क ह्रास स एक ओर तो समाज छोटे छोटे टुकडो म बट गया दूसरी ओर उसे सदा सवदा सहज रूप से जो नेता प्राप्त हुआ करते थ उनका अभाव हो गया और समाज धूर्तो तथा पाखण्डियो के चगुल म फसता गया, और उसकी आध्यात्मिक उन्नति रुक गई। जो धार्मिक और आध्यात्मिक साधना 'सुख से रहने और दूसरो को सुख स रहने देने' के लिए थी वह अब सासारिक जीवन से पृथक होकर पारलौकिक जीवन मात्र का लक्ष्य बनाकर अपना आकषण खो बठी। यह समाज की और राष्ट्र की एक बहुत बडी क्षति हुइ, जिससे राष्ट्र का मगलमय सगठन छिन्न भिन्न हो गया।

आर्थिक ह्रास

हमारे छिन्न भिन्न हो जाने का एक बडा कारण हमारी गरीबी भी है। किन्तु यह अपेक्षाकृत नया कारण है। अग्रेजो क आने से पहले तक विदेशो म भारत की ख्याति सोने की चिडिया के रूप मे थी। भारत स्वय धन उत्पन्न करता था और विदेशो का धन भी व्यापार के द्वारा यहा एकत्र हो जाता था। परन्तु यूरोपीयो और विशेषत अग्रेजो के आने के बाद उसका जो शोषण हुआ और उसके उद्योग धधो को जो हानि पहुचाई गई उससे, और अग्रेजी शासन नीति क कारण भारतीयो मे आलस्य की असीम वद्धि हुई और देश उत्तरोत्तर दरिद्रता का शिकार बनता गया।

परन्तु उसकी दरिद्रता का एक बडा कारण उसकी जनसख्या म भारी वद्धि भी थी। अठारहवी सदी के अन्त मे भारत की जनसख्या लगभग १० करोड थी। उस समय देश की अपार सम्पत्ति इतने ही लोगो म बटी हुई थी। १९६१ म यह जनसख्या (पाकिस्तान की जनसख्या को छोडकर जो पहले की जनसख्या म शामिल थी) ४५ करोड हो गइ।

जनसख्या की इस भारी वद्धि का एक मुख्य कारण भारतीय स्त्रियो क प्रति भारतीय पुरुषो का रुख होना चाहिए। भारत म स्त्रियों के मातृत्व की प्रतिष्ठा बहुत होने के साथ-साथ उनका जीवन पूणत पुरुष के अधीन और घर की चहारदीवारी

के अन्दर सीमित था। दूसरी ओर, पहले धन की प्रचुरता होने के कारण और बाद में धन तथा यश दोनों ही न होने के कारण पुरुष घरघुसा बन गया। यद्यपि इस बात के उचित अध्ययन की आवश्यकता है तथापि इस संभावना की सरलता में उपेक्षा नहीं की जा सकती कि स्त्रियों और पुरुषों की इस दयनीय अवस्था ने विशेष रूप से मध्यवर्ग में, प्रजोत्पत्ति को बढ़ाया। यदि यह सच हो तो परिवार नियोजन के अन्य उपायों के साथ साथ प्रजोत्पादन कम करने के लिए यह भी आवश्यक होगा कि स्त्रियों के लिए घर से बाहर काम करने के अवसरों का विकास किया जाए उन्हें पुरुषों की अधीनता से मुक्त किया जाए और पुरुषों को उद्योग धंधों में लगाया जाए।

संस्कृति पर विदेशी राजनीति का प्रभाव

भारत में सांस्कृतिक एकता तो सदैव रही विशेषतः इसलिए कि भारतीय जनता ने विभिन्नता में एकता का पाठ माता के दूध के साथ सीखा परन्तु विभिन्न सांस्कृतिक समुदायों में निकट संपर्क सहज नहीं हो पाया आसपास के प्रदेशों तक ही सीमित रहा। धर्माचार्यों और संतों ने समस्त जनता को निकट लाने के प्रयत्न बहुत किए। समस्त भारत में बड़े बड़े तीर्थों की प्रतिष्ठा और धर्माचार्यों की यह व्यवस्था कि प्रत्येक हिन्दू को अपने जीवन-काल में चारों धामों की यात्रा कर ही लेनी चाहिए ऐसी योजनाएं हैं, जिनसे भारत के बहुत लोगों का सांस्कृतिक और धार्मिक सम्बन्ध स्थापित होता रहता है। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य आदि के मठों, संतों के पंथों, प्राचीन मन्दिरों, कला, व्यापार आदि ने भी सम्पर्क बढ़ाने में योग दिया, जिससे समस्त देश की जनता में आत्मीयता की कमी नहीं रही। भिन्न क्षेत्रों के भिन्न राजनीतिक स्वार्थ इस आत्मीयता के आड़े तब तक नहीं आ सके जब तक अंग्रेजों ने अपना साम्राज्य स्थायी करने के उद्देश्य से विभिन्न क्षेत्रों तथा वर्गों में फूट के बीज नहीं बोए। अंग्रेजी भाषा की शिक्षा से सारे देश का अंग्रेजी पढ़ा वर्ग तो एक-दूसरे के निकट आया, परन्तु उसके अधिकतर लोग पश्चिमाभिमुख थे भारतीय धर्मों और संस्कृति से उनका सम्बन्ध कम था, या नहीं भी था। पारस्परिक संपर्क स्थापित करने का जो काम पहले भारतीय धर्म और संस्कृति के आधार पर संस्कृत अथवा देशी भाषाओं के द्वारा होता था, वही अब पश्चिमी सभ्यता के

आधार पर अंग्रेजी द्वारा होने लगा। इसके अपने लाभ तो अवश्य थ, परन्तु इसम जनता का जो सम्ब ध अब तक चला आ रहा था वह कट गया और नये वग के सम्बन्ध राजनीतिक तथा शासनिक विषयो की नीव पर खडे हुए। लोग बदले, सम्पर्क-क्षेत्र बदला, शान्तिदायी धम अध्यात्म और संस्कृति का मगल आसन हट गया और उसका स्थान स्वाथमय, सघषमय, विभाजनकारी, कुचक्रमय राजनीति न ले लिया। यह हमारी सांस्कृतिक एकता अथवा राष्ट्रीय भावना को खडित करने वाला बहुत बडा कारण बना।

कौटिल्य और गाधी की दृष्टिया

धम तथा अध्यात्म की इन मर्यादाओं की अनुभूति और भूमिवाद तथा सूक्ष्म राजनीति के महत्त्व की चेतना सबस पहले भारतीय सामाजिक विचारको मे कौटिल्य को हुई, जिसने अपने अथशास्त्र म राजनीति की प्रधानता प्रतिपादित की और राजा कालस्य कारणम् सिद्धात को अपनी पनी बुद्धि तथा दीघ दृष्टि से सीमा तक उभार दिया। सासारिक जीवन के लिए शायद यही सिद्धान्त वास्तविक है यद्यपि इसम स्थायी सुख शांति नही है सघष की बहुलायत ह और मनुष्य का सारे जीवन दूसरे के लादे हुए शासन और अनुशासन म रहना पडता है। गाधीजी ने इस विषय म कहा है

"मैं राजनीतिक सत्ता को ही साध्य नही मानता। यह तो एक साधन मात्र है जिसस जनता अपन जीवन के हर क्षत्र म उन्नति कर सके। राजनीतिक सत्ता का अथ ऐसी शक्ति है जिसस राष्ट्र के प्रतिनिधियो के द्वारा राष्ट्रीय जीवन का नियमन किया जा सके। यदि राष्ट्रीय जीवन इतना पूण हो जाए कि उसका नियमन आप ही आप होने लग तो प्रतिनिधियो की आवश्यकता नही रह जाएगी। यह स्थिति एक प्रबुद्ध अराजकता की होगी। ऐसे राज्य म प्रत्येक व्यक्ति स्वय अपना शासक होगा। वह अपना शासन ऐसे ढग स करेगा जिसस उसके पडोसी के जीवन म कोई बाधा न पडे। इस लिए एक आदश राज्य म राजनीतिक सत्ता होगी ही नही, क्योंकि सचमुच कोई राज्य ही न होगा। परन्तु जीवन म आदश की सिद्धि कभी नही होती। इसीलिए थोरो ने यह अमर बात कही है कि सबस अच्छा शासन वह है जो सब स कम शासन करता है। — यग इडिया, २ जुलाई, १९३१

वास्तव में गलत ढंग की राज सत्ता अनेक अनर्थों का मूल है। वह राष्ट्र में दुःख-दैन्य तथा अशान्ति और अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में विग्रह उत्पन्न करती है। उसको रास्ते पर रखने का अर्थ है समस्त जीवन को रास्ते पर रखना।

शिक्षा और निष्ठा भक्ति

ब्रिटिश शासकों की राजनीति भारत में राष्ट्रीय भावनाओं की विरोधी रही क्योंकि उनके पोषण से साम्राज्य के चले जाने का खतरा था। भारतीय जीवन और परंपराओं के प्रति तिरस्कार उत्पन्न करके अंग्रेजी शिक्षा द्वारा पाश्चात्य सभ्यता की चमक-दमक दिखाई, इससे उस अंग्रेजी पढ़े लिखे समाज में जिसकी धाक जन साधारण पर बराबर बढ़ रही थी, भारतीयता के प्रति निष्ठा भक्ति कम होती गई। गांधीजी ने अंग्रेजी शिक्षा के बारे में लिखा है

> 'विदेशी शासन की अनेकानेक बुराइयों में इतिहास इसे एक सबसे बड़ी बुराई मानेगा कि देश के युवकों पर विदेशी माध्यम लाद दिया गया। इससे राष्ट्र की ऊर्जा क्षीण हुई है विद्यार्थियों की आयु घट गई है वे जन-साधारण से दूर हो गए हैं, शिक्षा गैरजरूरी तौर पर महंगी हो गई है। यदि यही तरीका अब भी जारी रखा गया तो भय है कि राष्ट्र आत्मा को खो बैठेगा।'
>
> —यंग इंडिया' ५ ७-२०

अंग्रेज शासकों ने अपना साम्राज्य कायम रखने के लिए फूट डालो और राज्य करो की नीति का अवलम्बन किया। हिन्दुओं और मुसलमानों में उन्होंने विशेष रूप से फूट डालने के प्रयत्न किए परन्तु दूसरे सम्प्रदायों में भी निहित स्वार्थ पैदा करने में कमी नहीं की। फलतः आगे चलकर पाकिस्तान का निर्माण तो हुआ ही सिख और तमिल लोग भी स्वतंत्र राज्यों की आकांक्षा करने लगे दूसरी ओर धनी और निर्धन, किसानों और शहर के निवासियों, ब्राह्मणों और ब्राह्मणेतरों, हरिजनों और सवर्णों जाति के बीच भी उनकी नीति के कारण फूट पड़ गई।

हिन्दुओं और मुसलमानों के झगड़े तो बहुत ही बढ़ाए गए क्योंकि यह सरल था। जब उनसे कहा गया तब उन्होंने सदा यही दुहाई दी कि हिन्दू और मुसलमान तो पुराने शत्रु हैं इसलिए झगड़े करते रहते हैं। परन्तु महात्मा गांधी लिखा है

"क्या हिन्दू और मुसलमान उस समय भी बराबर एक दूसरे से लडा करते थे, जब भारत म अग्रेजो का राज्य नही था, या जब यहा अग्रेजो का चेहरा देखने को नही मिलता था ? हिन्दू और मुसलमान इतिहासज्ञो ने प्रमाण दे-देकर विस्तारपूर्वक बताया है कि उस समय हम अपेक्षाकृत हेल मेल से रहते थे। गावो मे रहनेवाले हिन्दू और मुसलमान तो आज भी नही झगडते। उन दिनो तो वे बिलकुल ही नही लडते थे। यह झगडा पुराना नही है। मैं तो कहूगा कि यह अग्रेजो के आगमन के साथ पैदा हुआ है। और जैसे ही ब्रिटेन और भारत के बीच का यह रिश्ता—यह दुर्भाग्यपूर्ण, कृत्रिम और अस्वाभाविक रिश्ता एक स्वाभाविक रिश्ते मे एक ऐसी स्वेच्छायुक्त साझेदारी म परिणत हुआ जो किसी भी पक्ष की इच्छा पर भग हो सकती हो, वैसे ही आप देखेंगे कि हिन्दू मुसलमान, सिख यूरोपीय, एग्लो-इडियन, ईसाई अछूत—सब हिलमिल कर एक मनुष्य जैसे रहेंगे। हा, यदि यह परिवर्तन होने वाला हो तो, और जब कभी हो तब।"

—यग इडिया, २४ दिसम्बर, '३१

एग्लो इडियनो को अग्रेजो ने विशेष सुविधाए देकर अपने हाथ मे रखा और भारतीय ईसाइयो के प्रति भी वे बहुधा पक्षपात का व्यवहार करते रहे जिससे शेष जनता म ईर्ष्या द्वेष तो जागा परन्तु उनके साथ खुले झगडे नहीं हुए।

पाच

स्वातन्त्र्य चेतना और सघर्ष

इस्ट इडिया कपनी के औद्योगिक, व्यापारिक तथा राजनीतिक अत्याचारा से सारा भारत तिलमिला उठा था। क्लाइव और वारेन हेस्टिंग्ज के काल मे तो अत्याचार इतने बढ गए थे कि इग्लड के लोगो को भी उन दोनो पर मुकदमे चलाने पडे। भारत के देशभक्त इस विषय पर चिन्तामग्न हो गए। उन्होने महसूस किया कि देश के कल्याण का माग एक ही है—विदेशियो को हटाना और शासन की बागडोर भारतीयो के हाथो मे देना। इस लक्ष्य की सिद्धि का पहला उपाय यह तय किया गया कि अपनी सामाजिक और धार्मिक बुराइयो तथा दरिद्रता को दूर करके अपने आपको समथ बनाया जाए।

राजा राममोहनराय का कृतित्व

इस दष्टि से भारतीय स्वातन्त्र्य के प्रथम नेता राजा राममोहन राय थे। व अरबी, फारसी सस्कृत, अग्रेजी, बगला आदि भाषाओ के पडित, सभी मुख्य धर्मों के ज्ञाता, शासन कार्यों तथा कानून के विशारद, अप्रतिम विचारक और उत्कट समाज सुधारक तथा देशभक्त थे। उनका जन्म हुगली ज़िले के राधानगर ग्राम म २२ मई, सन् १७७२ (१७७४ ?) को और देहावसान ब्रिस्टल के समीप स्टपिल टन ग्रोव इग्लड मे २७ सितम्बर, १८३३ को हुआ था। उन्होने हिन्दू धम स पाखडा और 'सती' जसी क्रूर प्रथाओ को मिटाने का प्रयत्न किया और अद्वत ब्रह्म की आराधना के लिए एक मन्दिर की प्रतिष्ठा की, 'जो सुव्यवस्थित, सयत, धार्मिक और भक्तिमय आचरण वाले सब लोगो के लिए बिना भेदभाव क खोल दिया गया। यही आगे चलकर उनके द्वारा प्रवर्तित ब्रह्मसमाज (१८२८) का केन्द्र बना। शासन व्यवस्था म सुधार कराने के भी उन्होने बहुत प्रयत्न किए। उस जमाने म ही अग्रेज सरकार न हिन्दुओ और मुसलमानो मे भेद डालन के

"क्या हिन्दू और मुसलमान उस समय भी बराबर एक दूसरे से लड़ा करते थे, जब भारत मे अंग्रेजो का राज्य नही था, या जब यहा अंग्रेजो का चेहरा देखने को नही मिलता था? हिन्दू और मुसलमान इतिहासकारो ने प्रमाण दे देकर विस्तारपूर्वक बताया है कि उस समय हम अपेक्षाकृत हेल मेल से रहते थे। गावो मे रहनेवाले हिन्दू और मुसलमान तो आज भी नही झगडते। उन दिनो तो वे बिलकुल ही नहीं लडते थे। यह झगडा पुराना नही है। मैं तो कहूगा कि यह अंग्रेजो के आगमन के साथ पैदा हुआ है। और जसे ही ब्रिटेन और भारत के बीच का यह रिश्ता—यह दुर्भाग्यपूर्ण, कृत्रिम और अस्वाभाविक रिश्ता एक स्वाभाविक रिश्ते मे एक ऐसी स्वेच्छायुक्त साझेदारी मे परिणत हुआ, जो किसी भी पक्ष की इच्छा पर भग हो सकती हो वसे ही आप देखेंगे कि हिन्दू मुसलमान, सिख, यूरोपीय, एग्लो इंडियन ईसाई अछूत—सब हिलमिल कर एक मनुष्य जसे रहेगे। हा यदि यह परिवर्तन होने वाला हो तो, और जब-कभी हो तब।'

—यग इंडिया, २४ दिसम्बर, '३१

एग्लो इंडियनो को अंग्रेजो ने विशेष सुविधाए देकर अपने हाथ मे रखा, और भारतीय ईसाइयो के प्रति भी वे बहुधा पक्षपात का व्यवहार करते रहे जिससे शेष जनता मे ईर्ष्या द्वेष तो जागा, परन्तु उनके साथ खुले झगडे नही हुए।

पांच

स्वातन्त्र्य चेतना और संघर्ष

ईस्ट इंडिया कंपनी के औद्योगिक, व्यापारिक तथा राजनीतिक अत्याचारों से सारा भारत तिलमिला उठा था। क्लाइव और वारेन हेस्टिंग्ज के काल में तो अत्याचार इतने बढ़ गए थे कि इंग्लैंड के लोगों को भी उन दोनों पर मुकदमे चलाने पड़े। भारत के देशभक्त इस विषय पर चिंतामग्न हो गए। उन्होंने महसूस किया कि देश के कल्याण का मार्ग एक ही है—विदेशियों को हटाना और शासन की बागडोर भारतीयों के हाथों में देना। इस लक्ष्य की सिद्धि का पहला उपाय यह तय किया गया कि अपनी सामाजिक और धार्मिक बुराइयां तथा दरिद्रता को दूर करके अपने आपको समर्थ बनाया जाए।

राजा राममोहनराय का कृतित्व

इस दृष्टि से भारतीय स्वातन्त्र्य के प्रथम नेता राजा राममोहन राय थे। वे अरबी, फारसी, संस्कृत, अंग्रेजी, बंगला आदि भाषाओं के पंडित, सभी मुख्य धर्मों के ज्ञाता, शासन कार्यों तथा कानून में विशारद, अप्रतिम विचारक और उत्कट समाज सुधारक तथा देशभक्त थे। उनका जन्म हुगली जिले के राधानगर ग्राम में २२ मई, सन १७७२ (१७७४ ?) को और देहावसान ब्रिस्टल के समीप स्टेपिल टन ग्राव, इंग्लैंड में २७ सितम्बर, १८३३ को हुआ था। उन्होंने हिन्दू धर्म में पाखंड और 'सती' जैसी क्रूर प्रथाओं को मिटाने का प्रयत्न किया, और ब्रह्म की आराधना के लिए एक मन्दिर की प्रतिष्ठा की, 'जो सुव्यवस्थित मयन, धार्मिक और भक्तिमय आचरण वाले सब लोगों के लिए बिना भेदभाव के' खोल दिया गया। यही आगे चलकर उनके द्वारा प्रवर्तित ब्रह्मसमाज (१८२८) का केन्द्र बना। शासन व्यवस्था में सुधार कराने के भी उन्होंने बहुत प्रयत्न किए। उस जमाने में ही अंग्रेज सरकार ने हिन्दुओं और मुसलमानों में भेद डालने के

प्रयत्न शुरू कर दिए थे। १८२७ में, अर्थात उनकी मृत्यु से ६ वर्ष और १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम से ३० वर्ष पूर्व, ब्रिटिश संसद में एक नया 'जूरी कानून' पास किया गया था। उसके द्वारा कानून में भी धार्मिक भेदभाव सन्निहित कर दिया गया। राजा राममोहन राय ने कलकत्ता के अनेक हिन्दू व मुसलमान नेताओं के हस्ताक्षर कराकर उसके विरुद्ध संसद के दोनों सदनों को एक विरोध पत्र भेजा था। उसके फलस्वरूप जान बूझकर बनाया गया कानून बदला तो नहीं गया, किन्तु एक ओर ब्रिटिश सरकार के हिन्दुओं और मुसलमानों में फूट डालने और दूसरी ओर भारतीय नेताओं के एकता का प्रयत्न करने की कथा मुखर हो उठी। भारत में अंग्रेजी शिक्षा आरम्भ कराने में भी राजा राममोहन राय का हाथ था। उनका ख्याल यह था कि अंग्रेजी पढ़कर भारतीय जनता अंग्रेज शासकों का रहस्य समझ सकेगी और समय आने पर उसके स्वतन्त्रता के प्रयत्न सरल हो जाएंगे। उन्होंने अपनी पहली पुस्तक तुहफात-उल मुवाहिदीन (अद्वैतवादियों को तोहफा) फारसी में और उसकी भूमिका अरबी में लिखी थी। इससे भी जान पड़ता है कि उन्हें हिन्दुओं और मुसलमानों को मिलाने की कितनी चिन्ता थी। वे बंगला में संवाद कौमुदी और फारसी में 'मिरातुल अखबार' नाम के दो पत्र भी निकालते थे जिनके द्वारा राजनीति, साहित्य, इतिहास और विज्ञान के ज्ञान का प्रसार किया जाता था। बंगला भाषा की उन्नति में उनका बहुत बड़ा योग है।

बंगाल में स्वतन्त्रता सम्बन्धी जागृति

राजा राममोहन राय अपने साथ से कलकत्ते में एक इंग्लिश स्कूल चलाते थे जिसमें महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त की थी। उनके प्रयत्नों और सहयोग से हिन्दू कालेज की भी स्थापना हुई थी। यह कालेज राष्ट्रीय और क्रांतिकारी विचारों का गढ़ बना। इसके अनेक प्रतिभाशाली विद्यार्थियों ने बंगला और अंग्रेजी में अनेक पत्रिकाएं निकालकर जनता को शिक्षा देने तथा उसमें राजनीतिक ज्ञान और क्रांति की भावनाएं फैलाने का प्रयत्न किया। इन विद्यार्थियों में ताराचन्द्र चक्रवर्ती, दक्षिणारंजन मुखोपाध्याय, रसिककृष्ण मल्लिक, रामगोपाल घोष, प्यारीचन्द्र मित्र आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके निकाले हुए पत्रों के नाम थे हैं 'दी पार्थनान', 'ज्ञानान्वेषण', 'हिन्दू पायोनियर', 'दी बेंगाल स्पेक्टेटर'। इनके अलावा 'बंगाल हरकारा' नामक पत्र में भी ये लोग

बहुत लिखते थे।

कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पितामह श्री द्वारकानाथ ठाकुर और कविवर के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने राजा राममोहन राय के साथ में बहुत योग दिया। पहले तो उनके दाहिने हाथ ही थे, दूसरे ने श्री केशवचन्द्र सेन के साथ मिलकर ब्रह्मसमाज को ठोस रूप दिया और उसका प्रसार किया। केशवचन्द्र सेन अनूठी प्रतिभा के धनी थे। यदि उनकी कुछ कमजोरियों के कारण ब्रह्मसमाज के सदस्यों में फूट न पड़ गई होती तो आज वह वेदान्त द्वारा विभिन्न धर्मों में समन्वय स्थापित करने का बहुत बड़ा साधन होता। फूट पड़ने से दो ब्रह्मसमाज और स्थापित हो गए। ये सब एक दूसरे से स्वतन्त्र थे और इनके आदर्शों में अन्तर था। राजा राममोहन राय का ब्राह्म आन्दोलन फूट की इस शिला से टकराकर घायल और कमजोर हो गया।

उन्हीं दिनों, अर्थात् १८५७ के स्वतन्त्रता-युद्ध के वर्षों पूर्व, शिवनाथ शास्त्री नाम के एक सज्जन ने भारत को स्वतन्त्र करने का स्वप्न देखा और उसके लिए एक क्रान्तिकारी दल का संगठन किया। परन्तु यह दल सफल नहीं हुआ और थोड़े ही समय में लुप्त भी हो गया।

महाराष्ट्र में सामाजिक सुधारों पर ज़ोर

जब बंगाल में ये सब प्रवृत्तियाँ चल रही थीं उसी समय छत्रपति शिवाजी के महाराष्ट्र में भी आध्यात्मिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ था। १८३२ के आसपास बाल शास्त्री जाम्भेकर ने साप्ताहिक 'दर्पण' और मासिक 'दिग्दर्शन' नामक सामाजिक पत्रों का प्रकाशन आरम्भ किया। उन्होंने अपने छोटे-से जीवन में—३६ वर्ष की आयु में—विधवा विवाह, पुनर्धर्मान्तर, अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रचार और पतितोद्धार आदि की दिशा में बहुत काम किया।

१८३४ में सरदार गोपालराव हरि ने लोक हितवादी पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया। इसके द्वारा स्वयं गोपालराव ने और उनके साथ मिलकर बाल शास्त्री जाम्भेकर, दादोबा पांडुरंग तथा डा० भाऊ दाजी ने समाज-सुधार का आन्दोलन ज़ोरों से चलाया। इस पत्र ने यह भी आन्दोलन किया था कि भारत में संसद की स्थापना की जाए और भारतीयों को उसका सदस्य बनाया जाए। परन्तु इसकी सबसे बड़ी और स्मरणीय विशेषता यह थी कि इसमें विष्णुबुआ

ब्रह्मचारी नाम के एक विचारक ने 'सुखदायक राज प्रकरण नीयम' से प्रकाशित एक लेख में समाजवाद या साम्यवाद का प्रतिपादन किया था। संभव है, टामस मूर की 'यूटोपिया (आकाश कुसुम) पढ़कर उनमें ये विचार उदित हुए हों परन्तु उन्होंने अपने विचारों को बड़े प्रभावशाली ढंग से पेश किया था।

महाराष्ट्र कट्टर हिन्दू धर्म का गढ़ था। उसने अभी अभी हिन्दू धर्म की रक्षा के नाम पर एक साम्राज्य का उदय देखा था और वह उसके पुनः अस्त हो जाने से संतप्त था। ऐसे समय पर प्रचलित धार्मिक प्रथाओं तथा रूढ़ियों में परिवर्तन या सुधार की बात करने में भी सारे समाज का रोष सिर पर लेने का खतरा था। परन्तु बिना सुधार किए राष्ट्र को मजबूत भी नहीं बनाया जा सकता था। इसलिए राष्ट्र को मजबूत बनाने का अन्तिम लक्ष्य बनाकर दादोबा पाण्डुरंग ने १८४० में सामाजिक सुधार के लिए एक गुप्त संस्था स्थापित की जिसका नाम था 'परमहंस मंडली'। इसका प्रयत्न था जाति पाँति को तोड़ना विधवा विवाह को प्रोत्साहन देना और मूर्तिपूजा से लोगों को विरत करना।

स्वतन्त्रता युद्ध का पूर्वाभास

एक ओर जब सुधार के नाम पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्र का संगठन करने और अन्ततः भारत से ब्रिटिश राज्य को नामशेष कर देने के ये प्रयत्न हो रहे थे, उसी समय देश के विभिन्न भागों में सशस्त्र क्रान्ति या विद्रोह की तैयारियाँ भी की जा रही थीं। फलतः १८२४ तक सहारनपुर दिल्ली मुरादाबाद आदि के निकट अनेक छोटे मोटे सशस्त्र विद्रोह हुए। १८२६ २७ में उमाजी नायक के नेतृत्व में पूना में, १८३१ ३२ में बिहार के कोल लोगों में १८४४ में सावंत वाड़ी राज्य में और १८४८ में कांगड़ा असवार तथा दानापुर में भारी विद्रोह हुए। किसानों में भी इसके साथ ही असंतोष फैल रहा था और वे भी फिरंगियों को मार भगाने की धात लगाए हुए थे।

जन साधारण में भी असंतोष की कमी नहीं थी क्योंकि उद्योग धंधे नष्ट हो जाने से वे दरिद्रता के कराल पाश में फँस गए थे। जब अंग्रेजों की ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत में व्यापार शुरू किया उस समय भारत अमित समृद्धशाली था सोने की चिड़िया माना जाता था परन्तु कंपनी के राज्य के अंत में, और ब्रिटिश सम्राज्ञी के राज्य के पहिले कुछ वर्षों में उसके आधे से ज्यादा लोग भूखों

मरते थे। सन १८७६ में हैरिंगटन नाम के किसी व्यक्ति ने इलाहाबाद के 'पायोनियर' पत्र में लिखा था "देश के ६० प्रतिशत लोग ऐसी भयानक दरिद्रता में जकड़े हुए हैं कि यदि वे बच्चों से मजदूरी कराकर गुजारा न करें तो हर परिवार के कुछ लोगों का भूखा मर जाना पड़े।" इसके अलावा, जनता 'सुधारों' से भी नाराज थी। अंग्रेजों ने भारत की परम्परागत सामाजिक व्यवस्था को भंग करके उसके स्थान पर कोई नई व्यवस्था स्थापित नहीं की थी, जिससे सारे देश का सामाजिक जीवन अस्तव्यस्त हो रहा था। कार्ल मार्क्स ने ८ अगस्त, १८५३ के 'न्यूयार्क हेरल्ड' में एक लेख लिखकर कहा था

"भारत के विजेताओं में अंग्रेज सबसे पहले थे, जो हिन्दुओं से अधिक उन्नत थे। इसलिए हिन्दू सभ्यता का उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने उनके अपने संगठनों का भंग करके, देशी उद्योगों को नष्ट करके और उनके समाज में जो कुछ भी महान और उन्नत था उस सबको चौपट करके उनकी सभ्यता का विनाश कर दिया है। भारत में उनके शासन की कथा इससे ज्यादा कुछ नहीं बताती।"

जनता असंगठित थी। अंग्रेजी पढ़े लिखे नेताओं का उसपर कोई प्रभाव नहीं था। इसलिए प्रभावशाली लोकनेताओं के अभाव में वह अशिक्षित और अर्ध शिक्षित पंडे-पुजारियों, राजाओं, नवाबों और धनिकों के कहने पर ही चलती थी। जब राजाओं और नवाबों को उनके अधिकारों और सम्पत्ति से वंचित किया जाने लगा तब उसका रोष और भी भड़क उठा।

भारतीय सैनिकों और सरकारी कर्मचारियों में भी असंतोष फैल रहा था। उनके साथ निम्न वर्ग के लोगों जैसा व्यवहार किया जाता था और उन्हें ऊंचे तथा अधिक वेतन के पद पाने का अवसर नहीं दिया जाता था। सैनिकों को देश के अन्दर और बाहर कहीं भी युद्ध के लिए भेज दिया जाता था। एक बार बंगाल की एक टुकड़ी ने ब्रह्मदेश जाने से इंकार कर दिया। इसपर सारी टुकड़ी को गोलियों से उड़ा दिया गया। बाद में यह कानून बना दिया गया कि कोई सैनिक आदेश मिलने पर कहीं भी जाने से इन्कार नहीं कर सकता।

नेपाल में तो अंग्रेजों को पैर रखने का मौका ही नहीं दिया गया। वहां एक कहावत प्रचलित हो गई थी, 'पहले ब्रिटिश आता है फिर बाइबिल आती है, बाद में बेयोनेट (संगीन) आ जाती है।'

छह

महापुरुषों का युग और नये प्रयत्न

स्वातन्त्र्य युद्ध प्रत्यक्षत तो असफल हो गया, परन्तु वह एक नये अधिक प्रबुद्ध और अधिक संगठित स्वातन्त्र्य-युद्ध का बीजवपन कर गया। यह युद्ध धार्मिक सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक—सभी स्तरों पर लड़ा गया। इसका मूलमन्त्र था—अपने अतीत गौरव को संभालो, धार्मिक पाखंडों और सामाजिक बुराइयों को निकालकर जीवन को शुद्ध और सशक्त करो अंग्रेजों की विद्या सीखकर शासन पर अपना अधिकार करते जाओ और उपयुक्त समय आने पर विदेशी सत्ता को अर्धचन्द्र दे दो।

राष्ट्र को इस लक्ष्य की ओर अग्रसर करने के लिए स्वातन्त्र्य युद्ध के बाद के काल में नेताओं का अभाव नहीं रहा। वास्तव म इस काल मे जितने महान नेताओं का उदय हुआ उतने शायद किसी भी अन्य काल म एक साथ पैदा न हुए होंगे। इस काल की विशेषता यह भी थी कि प्रत्यक्ष राजनीतिक संग्राम कुछ समय के लिए साधारण जनता के हाथ से निकलकर पश्चिमी विद्या पर अधिकार प्राप्त नेताओं के हाथ म चला गया जो जनता की आकांक्षाओं तथा आवश्यकताओं का अध्ययन करके उन्हें प्रभावशाली ढंग से प्रकाशित करते थे और उनकी पूर्ति के लिए वैधानिक ढंग से संघर्ष करते थे। उनका यह काम भावी संघर्ष की नींव डालने और उसे मजबूत करने का था।

परन्तु इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि जनता के सामने कोई संघर्ष या कार्य रहा ही नहीं था। शुद्ध राजनीतिक और शासनिक आन्दोलन को उभारने और अवलम्ब देनेवाला धार्मिक सामाजिक और सांस्कृतिक अभियान भी इसी काल म आरम्भ हुआ था। मध्य युग के संतों के समान इस युग म भी अनेक संतों ने जन्म लेकर सारे भारत में पुनरुत्थान की आवाज उठाकर जन साधारण को एक सामान्य लक्ष्य प्रदान किया था जिससे समाज जीवित रहा, पुष्ट हुआ और सिर

ऊंचा उठाकर खड़ा रहने योग्य बना।

यही युग था जब कि अंग्रेज शासकों ने हिन्दुओं और मुसलमानों में फूट डालने का चक्र पूरे जोरों से चलाया, जो आगे चलकर रुका ही नहीं और जिसका अन्तिम परिणाम लाखों हिन्दू मुसलमानों के रक्त पर भारत का विभाजन और पाकिस्तान का निर्माण हुआ।

ब्रह्मसमाज का विस्तार और कार्य

राजा राममोहन राय द्वारा स्थापित ब्रह्मसमाज (१८२८) ने आगे चलकर धार्मिक तथा सामाजिक पुनरुत्थान का काम किया। उसका प्रभाव बंगाल के बाहर भी दूर दूर तक पहुंचा और उससे हिन्दू समाज को एक नवजीवन की दृष्टि मिली। स्त्रियों को समाज के अत्याचारों से मुक्त होने का अवसर मिला और विविध धर्मों में समन्वय का मार्ग प्रशस्त हुआ।

ब्रह्मसमाज का आधार ब्रह्मवाद अथवा अद्वैत था, और उसमें मूर्तिपूजा का निषेध था। सब धर्मों के लोग उसके मन्दिर में आ आकर उपासना कर सकते थे।

केशवचन्द्र सेन ने १८६७ में उसका विस्तार प्रार्थनासमाज के नाम से बम्बई में किया। वहां महादेव गोविन्द रानडे तथा डा० रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर जैसे मनीषियों ने उसे अपनाया और बढ़ाया। परन्तु प्रार्थनासमाज ने सामाजिक सुधार को ही अपना मुख्य कार्यक्षेत्र माना। रानडे स्वयं एक उत्कट समाज सुधारक थे। उन्होंने विधवा विवाह को बहुत प्रोत्साहन दिया था। भाण्डारकर संस्कृत भाषा और हिन्दू धर्मशास्त्र आदि के प्रकाण्ड पंडित थे।

लोकमान्य तिलक का उदय

रानडे की प्रेरणा से पूना में सार्वजनिक सभा के नाम से एक संस्था तरह तरह का सेवा कार्य करती थी। १८७९ ई० में लोकमान्य तिलक ने अपनी शिक्षा समाप्त कर पूना के सार्वजनिक जीवन में पदार्पण किया। आगरकर के साथ मिलकर उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा के प्रसार के लिए न्यू इंग्लिश स्कूल की स्थापना की (१८८०) और १८८४ में डेक्कन एजुकेशन सोसायटी की स्थापना करके उसके अधीन उक्त स्कूल को 'फर्ग्युसन कालेज' में परिणत कर दिया। इन संस्था

ने युवकों में जागृति और देश प्रेम पदा करने का बहुत काम किया। परन्तु यह लोकमान्य के सतोष के लिए काफी नहीं था। उन्होंने तो स्वराज्य प्राप्ति को अपना जीवन लक्ष्य बनाया था, "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं उसे लेकर रहूगा।" अत जनता में जागृति फलाने के लिए उन्होंने आगरकर के सहयोग से मराठी में 'केसरी' और अंग्रेजी में 'मराठा' पत्र निकाला (१८८१)। उनके सपादन में केसरी बहुत शक्तिशाली पत्र बन गया। उसने महाराष्ट्र में अभूतपूर्व जागृति फैलाई।

ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज

इसी बीच काठियावाड़ के मोरवी राज्य में ऋषि दयानन्द सरस्वती का जन्म हो चुका था (१८२४)। लगभग ४० वर्ष की आयु में उन्होंने विद्याध्ययन पूर्ण करके वदिक धर्म के नये सदेश का प्रचार करना शुरू किया। वे मूर्तिपूजा, तीर्थ माहात्म्य धार्मिक और सामाजिक पाखंडों तथा जन्मसिद्ध जाति पाति के विरोधी थे। विधवा विवाह तथा स्त्रियों की उन्नति को प्रोत्साहन देते थे। वे मानते थे कि वेद ही परमेश्वरीय धर्म के ग्रंथ हैं शेष सब धर्म ग्रंथ मनुष्यों के रचे हुए हैं। उनके इस तर्क और प्रचार से हिन्दू समाज को बहुत बल मिला। सत्य के अन्वेषण और पालन पर उनका बहुत जोर था।

अपने इन आदर्शों की पूर्ति के लिए उन्होंने १८७५ में बम्बई में और दो वर्ष बाद लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना की। बम्बई में उन्हें महादेव गोविन्द रानडे का सहयोग प्राप्त हुआ। पंजाब में आर्यसमाज ने सबसे ज्यादा काम किया, परन्तु वर्तमान उत्तरप्रदेश भी उससे कम अनुगृहीत नहीं हुआ। जिस काल में ऋषि दयानन्द ने सारे देश में घूम घूमकर अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया उसमें प्रत्येक प्रकार का क्रान्तिकारी कार्य राजनीतिक क्रान्ति की आकांक्षाओं को पुष्ट करने वाला होता था। दयानन्द ने अपने काल के अन्य ऋषि मनीषियों के समान पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध और किंकर्तव्यविमूढता में पड़े निराश और आत्मग्लानिग्रस्त भारत को उसके मूलभूत गौरव की चेतना कराई। पंजाब और उत्तरप्रदेश में उस समय और उसके बाद जिन राजनीतिक नेताओं तथा कार्य कर्ताओं का उदय हुआ उनमें से अधिकतर आर्यसमाज के पालने में ही फूलकर बड़े हुए थे। अपने जमाने में लाला लाजपतराय उसके सबसे बड़े नेता और सर्वप्रथ

थे। स्वामी श्रद्धानन्द और महात्मा हंसराज भी आर्यसमाज के महान स्तम्भ अ कर्णधार थे।

हिन्दी भाषा और नागरी लिपि का आग्रह

हिन्दी को सारे भारत की सामान्य भाषा बनाने का स्वप्न सबसे पहले राजा राममोहन राय ने देखा था। उन्होंने अंग्रेजी, संस्कृत और अरबी फारसी के अच्छे-अच्छे ग्रन्थों का अनुवाद हिन्दुस्तानी में करने का मनोरथ बांधा था। परन्तु वे इसे पूरा नहीं कर सके। बाद में केशवचन्द्र सेन ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की आवश्यकता पर जोर दिया। परन्तु उस राष्ट्रभाषा को रूप देने का ठोस प्रयत्न सबसे पहले ऋषि दयानन्द ने किया। वे स्वयं जन्म से काठियावाड़ी थे। उनकी मातृभाषा काठियावाड़ी गुजराती थी। परन्तु उन्होंने अपने सब ग्रन्थ हिन्दी म लिखे। उन्होंने कहा था 'दयानन्द की आंखें वह दिन देखना चाहती हैं जब कश्मीर से कन्याकुमारी तक और अटक से कटक तक नागरी अक्षरों का ही प्रचार होगा। मैंने भारत भर में एक भाषा का प्रचार करने के लिए ही अपने सारे ग्रन्थ हिन्दी म लिखे हैं।' इससे स्पष्ट है कि वे सारे भारत की भाषाओं के लिए नागरी लिपि का भी प्रचार करना चाहते थे।

उन्होंने अपने जीवन और अपनी वाणी से परम पुरुषार्थ तथा उच्च और उ चारित्र्य की शिक्षा दी। दुर्भाग्यवश उन्हें ५६ वर्ष की अवस्था में जोधपुर के महा राजा की वेश्या ने उनके ही रसोइये से विष दिला दिया जिससे उनका शरीर उब न पाया। १८८३ की दिवाली के दिन प्रणव मन्त्र का उच्चारण करते-करते उन्होंने अपना चोला छोड़ दिया। मृत्यु से पूर्व रसोइये को क्षमा कर, भाग जाने के लिए कुछ रुपये देते हुए उन्होंने कहा था "इस समय मरने से मेरा काम अधूरा र गया। तुम नहीं जानते कि इससे लोकहित की कितनी बड़ी हानि हुई है।

श्रीरामकृष्ण, विवेकानन्द, रामतीर्थ

ऋषि दयानन्द के जन्म से १० वर्ष बाद बंगाल में एक अलौकिक विभूति क जन्म हुआ जो श्रीरामकृष्ण परमहंस के नाम से विख्यात हुई (१८३४ १८८६)। श्रीरामकृष्ण अधिक पढ़े लिखे नहीं थे। कठोर साधना द्वारा उन्होंने दिव्य स्फू उपार्जित की और संसार को वेदान्त का जीवनदायी सन्देश सुनाया। जिस सम

पाश्चात्य सभ्यता और ईसाई धर्म की चमक दमक से शिक्षित बंगालियों की श्र हिन्दू धर्म पर से डिगती दिखाई देती थी और सारा देश निराशा की गर्त में पड़ा हुआ 'क्या सही, क्या गलत' की गुत्थी सुलझाने में विफल हो रहा था, उस सम श्रीरामकृष्ण ने हिन्दू धर्म तथा वेदान्त की दिव्य ज्योति दिखाकर उसके मान को आलोकित किया। उन्होंने अनेक धर्मों का पालन करके यह निष्कर्ष निकाल था कि सब धर्म एक ही परमात्मा की ओर ले जानेवाले भिन्न भिन्न मार्ग हैं, औ ये विभिन्न नामों से उसी एक परमात्मा की उपासना करने का सन्देश देते हैं।

उनके देहावसान के पश्चात उनके उतने ही अलौकिक शिष्य स्वामी विवेका नन्द (१८६२-१९०२) ने विश्व भर को भारत की और हिन्दू धर्म की महत्ता क परिचय कराया। उन्होंने घोषणा की कि वेदान्त ही सर्वश्रेष्ठ धर्म और दर्शन है और कभी न कभी सारा विश्व उसे स्वीकार करने को बाध्य हो जाएगा। उनक वेदान्त केवल बौद्धिक सिद्धान्तों तक सीमित नहीं था। उन्होंने प्राचीन भारतीय दर्शन का आधुनिक वैज्ञानिक सभ्यता के साथ समन्वय करने का प्रयत्न किया और श्रीरामकृष्ण मठ की स्थापना करके उसके संन्यासी सदस्यों को दरिद्रनारायण की सेवा करने की प्रेरणा दी। उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से भारत की स्वतन्त्रता और उसक पुनर्निर्माण का समर्थन करके देशभक्तों को भी बहुत प्रेरणा दी। वे राज्य और समाज में शान्ति चाहते थे परन्तु उसका उचित साधन आध्यात्मिक उन्नति और सांस्कृतिक बल को मानते थे। वे अपने आपको समाजवादी कहते थे। उन्होंने कहा था 'समाज के सभी व्यक्तियों को धन विद्या और ज्ञान उपार्जित करने का समान अवसर मिलना चाहिए।'

इसी प्रकार का कार्य स्वामी रामतीर्थ ने भी केवल ३३ वर्ष के छोटे-से आयुष्य (१८७३-१९०६) में बहुत प्रभावशाली ढंग से किया। पंजाब में जन्म लेकर और समस्त विश्व में भ्रमण करके उन्होंने विश्वात्मा और जीवात्मा अद्वैत की अनुभूति कराकर मनुष्य की शक्ति जागृत करने का प्रयत्न किया। उन्होंने सन्देश दिया

नजर की क्या मजाल कि इक जर्रा कर सके।
तेरा ही है खयाल कि घायल हुआ है तू॥

एनीबेसेंट और थियासफी

आर्यसमाज के निमंत्रण पर मादाम ब्लवत्स्की (रूस) और कर्नल एच० एस०

आलकॉट (अमेरिका) ने आकर अडयार मद्रास में थियोसॉफिकल सोसाइटी की स्थापना की (१८७६)। हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान ही इस सोसाइटी का भी उद्देश्य था, परन्तु यह अपना प्रचार-कार्य आधुनिक यूरोपीय ढंग से करती थी। १८९३ में श्रीमती एनी बेसेंट के भारत आ जाने पर उनके नेतृत्व में इसका काम बहुत ज़ोरों से चला। उत्तर भारत में काशी इसका केन्द्र बना। वहां इसकी ओर से सेंट्रल हिन्दू स्कूल की स्थापना की गई जो बाद में सेंट्रल कालेज में परिणत हो गया। इसी कालेज को आगे चलकर हिन्दू विश्वविद्यालय का मुख्य कालेज बनाया गया। श्रीमती एनी बेसेंट मानती थीं कि प्राचीन हिन्दू धर्म को पुनर्जागृत किए बिना भारत में नवजीवन का संचार करना संभव नहीं है। इसीलिए बनारस के स्कूल और कालेज के साथ और कदाचित् बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के नाम में भी हिन्दू शब्द जोड़ा गया। सोसाइटी ने आधुनिक शिक्षा प्राप्त और पाश्चात्य जीवन-शैली पसन्द करनेवाले हिन्दुओं में स्वधर्म के प्रति गौरव उत्पन्न किया और विदेशों को भी हिन्दू धर्म तथा संस्कृति की महानता का परिचय कराया।

राजद्रोह की चिनगारियां

इस प्रकार जब धार्मिक और धार्मिक तथा सामाजिक पुनरुत्थान के प्रयत्नों में राष्ट्र संगठित और जागृत हो रहा था और शिक्षित भारतीय हरे भरे भविष्य के सुनहरे स्वप्न देखने लगे थे उस समय अधिकतर जनता भूख और बेकारी से कराह रही थी। उद्योग धंधों और कृषि की दुर्दशा और करों में लगातार वृद्धि होती जाती थी। १८७५ में युवराज भारत आए परन्तु जनता को कोई राहत नहीं दी गई। उलटे, कानून कड़े कर दिए गए। १८७७ में महारानी विक्टोरिया के भारत की सम्राज्ञी की उपाधि ग्रहण करने पर दिल्ली में तो बड़े ठाटबाट से एक दरबार किया गया, परन्तु मद्रास में और महाराष्ट्र आदि में बहुत भयंकर अकाल में अगणित जनता काल-कवलित हो रही थी। उसी समय देशी भाषाओं के पत्रों का मुंह बन्द करने के लिए एक नया प्रेस कानून बना दिया गया था। इस कानून के अनुसार भारतीय भाषाओं के पत्रों के लिए आवश्यक था कि या तो वे ऐसा इकरारनामा लिखें कि हम सरकार के विरुद्ध भावनाएं भड़कानेवाले और विभिन्न वर्गों, जातियों तथा धर्मों के लोगों के बीच द्वेष फैलाने वाले लेख न

छापेंग या सरकार द्वारा नियुक्त अधिकारी को पहले अपने प्रूफ दिखाएं। लार्ड लिटन ने इस कानून को पास कराते समय कहा था कि सरकार भारतीय भाषाओं के पत्रों का राजद्रोही रुख बहुत बरदाश्त कर चुकी। 'पत्रों की स्वतन्त्रता तो उन लोगों के लिए है जो उसे अपनी योग्यता से उपार्जित करें और बुद्धिमत्तापूर्वक उसका उपयोग करें वह कोई ऐसी चीज नहीं है जिसकी आखें मूदकर पूजा की जाए।' इससे स्पष्ट मालूम होता है कि जिसे अग्रेज सरकार राजद्रोह समझती थी उस प्रकार की भावनाए उस समय पत्रों द्वारा भी फलाई जा रही थीं। इन सब बातों के अलावा अग्रेज लोग भारतीयों के साथ ऐसा अपमानजनक बर्ताव करते थे, जिसमें जातिभेद स्पष्ट दिखलाई पड़ता था। भारतीयों को ऊची नौकरियां भी नहीं दी जाती थीं। अपने जमाने में राजा राममोहन राय को एक मुंशी की नौकरी तो करनी ही पड़ी थी इस जमाने में भी सर सयद अहमद जैसे लोगों को बहुत छोटी नौकरी से अपना जीवन आरम्भ करना पड़ा।

कांग्रेस का जन्म पहला अधिवेशन

धीरे धीरे असंतोष इतना बढ़ता गया कि सारे देश में लोग फिर से क्रान्ति की योजनाए बनाने लगे। छोटे छोटे गुटों में सगठित होकर उन्होंने शस्त्रास्त्र इकट्ठा करना शुरू किया। कांग्रेस के सस्थापक श्री ऐलन आक्टेवियन ह्यूम ने लिखा है कि उन्होंने ३० ००० लोगों की रिपोर्टें देखी थीं जिनसे मालूम होता था कि किसी भी समय में छोटे छोटे गुट खून-खराबी शुरू कर सकते हैं और यदि कोई योग्य नेता मिल गए तो बड़े पैमाने पर इनका संगठन भी हो सकता है।

श्री ह्यूम ब्रिटिश साम्राज्य के हितैषी तो थे ही, परन्तु वे भारत का भी हित चाहते थे। इसी भावना से उन्होंने लार्ड रिपन की सहानुभूति से और बाद में लार्ड डफरिन की कूटनीति में आकर १८८५ के दिसम्बर में अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की। वास्तविक उद्देश्य यह था कि इसके द्वारा भारत के अंग्रेजी पढ़े लिखे और विचारशील नेता वर्ष में एक बार अपना सम्मेलन करके भारतीयों की आवश्यकताओं और परिस्थितियों पर विचार करेंगे जिससे सरकार को अपना शासन स्निग्ध रूप में चलाने में मदद मिलेगी। लार्ड डफरिन की कूटनीति का खयाल करते हुए ऐसा अनुमान होता है कि वह इस सस्था को अपने हाथ की ऐसी एक कठपुतली बनाना चाहता होगा, जिसकी मदद से वह देश का

लाडों पर सदैव हाथ रख सके। परन्तु यह उद्देश्य सिद्ध नहीं हुआ, और दूसरे वर्ष में ही वह सरकार का कोप भाजन बन गई।

कांग्रेस का पहला अधिवेशन २८ दिसम्बर १८८५ को बम्बई की गोकुलदास तेजपाल पाठशाला में हुआ। उसमें जो लोग शामिल हुए थे उनका विचार करते हुए मालूम होता है कि उस समय भारत में पश्चिमी विद्या से अनुगृहीत चोटी के लोगों की कोई कमी नहीं थी और उनमें से प्रत्येक बड़ी से बड़ी राजनीतिक आर्थिक सामाजिक या धार्मिक जिम्मेदारी वहन कर सकता था। इन सबके निकट सम्पर्क से आज की दृष्टि से कांग्रेस की स्थापना उस समय के शासकों के लिए सहायक होने के बदले एक सिर दर्द बन गई। जो महान व्यक्ति उसमें शामिल हुए थे उनमें से कुछ के नाम ये हैं

श्री ऐलन आक्टेवियन ह्यूम शिमला, उमेशचन्द्र बनर्जी (अध्यक्ष) और नरेन्द्रनाथ सेन, कलकत्ता, वामन सदाशिव आपटे और गोपाल गणेश आगरकर पूना गंगाप्रसाद वर्मा, लखनऊ, दादाभाई नौरोजी, काशीनाथ त्र्यम्बक तैलंग, फीरोजशाह मेहता, दीनशा एदुलजी वाच्छा बहरामजी मलाबारी, नारायण गणेश चन्दावरकर, बम्बई पी० रंगया नायडू (अध्यक्ष महाजन सभा, मद्रास), एम० सुब्रह्मण्य ऐयर, एम० वीर राघवाचार्य मद्रास, पी० केशव पिल्ले, त्रिरअनन्तपुरम। इनके अलावा ये लोग प्रतिनिधि नहीं थे, परन्तु अधिवेशन में उपस्थित थे—दीवान बहादुर आर० रघुनाथ राव, डिप्टी कलक्टर मद्रास, महादेव गोविन्द रानडे कौन्सिल के सदस्य और जज पूना लाला बैजनाथ, आगरा प्रोफेसर के० सुन्दररमण और रामकृष्ण गोपाल भाडारकर। ज्ञानप्रकाश, मराठा केसरी, नव विभाकर, इंडियन मिरर, नसीम, हिन्दुस्तानी ट्रिब्यून, इंडियन यूनियन, स्पेक्टेटर, इंदुप्रकाश हिन्दू क्रेसेंट आदि प्रसिद्ध पत्रों के संपादक भी अधिवेशन में शामिल थे।

पहले अधिवेशन में ६ प्रस्ताव पास हुए थे। उनमें भारतीय जनता की आकांक्षाएं और मांगें व्यक्त की गई थी। भाषण बहुत जोरदार हुए थे। बस इतने से ही सरकार के कान खड़े हो गए और उसने उसका विरोध शुरू कर दिया। यह विरोध हिन्दू मुसलमानों में फूट डालने में विकसित हुआ।

सात

कुछ शिक्षित मुसलमानों की प्रतिक्रिया का रहस्य

मुस्लिम राज्य का अन्त हो जाने के कारण मुसलमानों के मन में अंग्रेजों के प्रति द्वेष था ही, जब फारसी को सरकारी भाषा के पद से हटा दिया गया तब यह द्वेष और भी बढ़ गया। वे अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य संस्कृति का विरोध करने लगे। अंग्रेज सरकार इससे अपरिचित नहीं थी। वह मुसलमानों के प्रति सतर्क दृष्टि रखती थी। दोनों ओर के विचार का परिणाम यह हुआ कि १८५७ में अवसर आने पर मुसलमानों ने हिन्दुओं के साथ मिलकर ब्रिटिशों को खदेड़ देने का जी-तोड़ प्रयत्न किया। इस युद्ध में विफल हो जाने पर उन्हें असीम निराशा हुई।

मुसलमानों की प्रतिक्रिया

धीरे धीरे इस निराशा की प्रतिक्रिया अंग्रेजों की ओर से हिन्दुओं की ओर मुड़ती गई। इसका एक बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक कारण था। मुस्लिम मुल्ला मौलवियों का फतवा था कि अंग्रेजी शिक्षा इस्लाम विरोधी है इसलिए मुसलमान समाज उसका बहिष्कार कर रहा था। दूसरी ओर हिन्दू समाज जोरों से उसका लाभ उठा रहा था। फलतः अंग्रेजी शिक्षा से होनेवाले लाभ हिन्दुओं को तो मिलते थे, वे सरकारी नौकरियों में बड़ी संख्या में शामिल हो रहे थे परन्तु मुसलमान उन लाभों से वंचित थे। इससे मुसलमानों के मन में एक स्वाभाविक भावना यह पैदा हो रही थी कि राज्य तो हमारा गया और अब बढ़ रहे हैं ये। ये कल तक हमारी प्रजा थे। आज हमपर हुक्म चलाने लगे हैं। यदि ये हमारे दोस्त होते तो हमारा साथ देकर ये भी ब्रिटिश शिक्षा का बहिष्कार कर देते। मगर मालूम तो यह होता है कि अब ये ही हमपर राज्य करेंगे। जैसे जैसे हिन्दुओं की बात सरकार के सामने चलती गई और यह स्वाभाविक था, क्योंकि मुसलमान तो आगे आ ही नहीं रहे थे

और जैसे जैसे उनकी अधिक उन्नति होती गई, वैसे-वैसे यह भावना भी बढ़ती गई।

अंग्रेज अफसरों और वाइसराय लिटन (१८७६ १८८०), डफरिन (१८८४-१८८८), कर्जन (१८९९ १९०५) तथा मिंटो (१९०५ १०) ने इस भावना को बढ़ाने ऐसे भारत में उदित होती हुई राष्ट्रीय तथा क्रांतिकारी भावनाओं के विरुद्ध और अंग्रेज साम्राज्य के पक्ष में मोड़ने का सफल प्रयत्न किया।

शासकों के सहायक सर सैयद अहमद खां

इस काम में मदद के लिए अंग्रेज शासकों को एक कुलीन, प्रतिभाशाली और प्रभावशाली व्यक्ति मिल गया—सैयद अहमद खां (१८१७ १८९८), जो बाद में 'सर' की उपाधि से विभूषित हुए। सर सैयद अहमद के पिता मुगल दरबार में एक उच्च अधिकारी थे। मुगल बादशाह की सर सैयद पर कृपा-दृष्टि थी और बचपन में सर सैयद महल में आया-जाया करते थे। मुगल दरबार की तहजीब उनमें पूरी-पूरी उतरी थी, फलतः उनका व्यवहार और बालचाल लोगों को प्रभावित करता था। अंग्रेजी शिक्षा उन्होंने नहीं पाई थी, अंग्रेजी के कुछ शब्द अवश्य सीख लिए थे, उनका उपयोग मौका आने पर किया करते थे। परन्तु अरबी, फारसी और उर्दू भाषाओं पर उन्हें असाधारण अधिकार प्राप्त था। छोटी उम्र में ही उन्होंने कम्पनी सरकार के अधीन एक छोटी-सी नौकरी प्राप्त कर ली थी। मुगल बादशाह ने इसे नापसन्द करके उन्हें अपने दरबार में किसी अच्छे पद का वादा करके वापस बुलाया। परन्तु शायद युवक सैयद अहमद की दीर्घ दृष्टि ने देख लिया था कि मुगल साम्राज्य के दिन लद चुके हैं इसलिए वह कम्पनी की नौकरी में बना रहा। धीरे धीरे वह उन्नति करता गया। १८५७ में उसने अनेक अंग्रेजों की प्राण रक्षा की, इसलिए उसे जीवन भर के लिए पेंशन बांध दी गई और साथ ही सबजज की बराबरी के एक पद पर नियुक्त कर दिया गया, जिससे उन्होंने १८७६ में अवकाश प्राप्त करके शेष जीवन अलीगढ़ में बिताया। अपनी नौकरी के दिनों में उन्होंने बहुत-से अंग्रेजों को मित्र बना लिया था। उनमें से तीन—थियोडोर बैक प्रोफेसर (बाद में, सर) टामस आर्नाल्ड, और प्रोफेसर (बाद में, सर) थियोडोर मारीसन—उनके स्थापित किए हुए मुस्लिम एंग्लो ओरियंटल कालेज, अलीगढ़ में प्रिंसिपल और अध्यापक रहे। बेक ने प्रिंसिपल

की हैसियत से और बेग दोनों ने अध्यापकों के तौर पर उस कालेज का निर्माण और विकास किया जिससे कि आगे चलकर वह भारत के मुसलमानों की राजनीतिक प्रेरणा और गतिविधि का केन्द्र बन गया। इनके अलावा भारत और इंगलैण्ड के राजनीतिज्ञों में और भी अनेक उच्च पदस्थ और चतुर अंग्रेज उनके मित्र और सहायक बने थे। लार्ड लिटन उनसे खुश थे, लार्ड डफरिन उनपर मुग्ध थे। एक मामूली मुसाहब अर्थात् सबजज के अपनी नौकरी के दिनों में ही इतने बढ़ जाने का दूसरा उदाहरण ब्रिटिश शासन के इतिहास में शायद ही मिलेगा।

राष्ट्रवादी सर सैयद अहमद

सर सैयद लार्ड रिपन के शासन-काल के अन्त तक भारत को एक अखंड राष्ट्र मानते थे। पंजाब के हिन्दुओं के एक मानपत्र के उत्तर में उन्होंने १८८३ में कहा था कि भारत में रहनेवाले हिन्दू और मुसलमान सब हिन्दू हैं, मुझे अफसोस है कि आपने मुझे हिन्दू नहीं कहा। अपने अन्य भाषणों में उन्होंने भारत को हिन्दुओं और मुसलमानों का एक अखंड राष्ट्र बताया था और दोनों सम्प्रदायों को मिल-जुलकर उन्नति करने की शिक्षा दी थी। पर घटनाचक्र के विश्लेषण से जाहिर है कि वे भी पहले भीतर भीतर और बाद में साफ तौर पर हिन्दुओं के प्रति स्पर्धा के शिकार थे। अंग्रेज अधिकारियों ने १८५७ के बाद फूट फैलाने के लिए जिस नीति का अवलम्बन किया, वह मुसलमानों को यह प्रेरणा देने की थी कि वे अंग्रेज सरकार से मिलकर अंग्रेजी राज्य का लाभ उठाने के प्रयत्न क्यों नहीं करते। सर सैयद ने इस कल्पना को पकड़ लिया और स्थिर रूप दिया। अत्यन्त चतुराई से यह प्रचार करना शुरू कर दिया कि मुसलमानों का हित हिन्दुओं से मिलकर सरकार के विरुद्ध आन्दोलन करने में नहीं है, बल्कि सरकार से मिलकर रहने और हिन्दुओं की प्रवृत्तियों का विरोध करने में है। अंग्रेज अधिकारियों, वाइसराय लिटन, डफरिन और कर्जन तथा अंग्रेजी के अखबारों ने उनके इस विचार को खूब बढ़ावा दिया।

थियोडोर बेक की कूटनीति

सर सैयद ने कट्टर मुसलमानों को समझा-बुझाकर मुसलमानों की शिक्षा के लिए अलीगढ़ में मुस्लिम एंग्लोओरियंटल कालेज की स्थापना कर ही दी थी

(१८७५) और भी अनेक संस्थाएं मुसलमानों के हित के लिए खोली थीं। सरकार ने उनके इस कार्य का खूब स्वागत किया था। १८७७ में स्वयं लार्ड लिटन मुस्लिम कालेज की शिला रखने के लिए अलीगढ़ गए थे। इस कालेज के प्रिंसिपल थियोडोर बेक बहुत चतुर कूटनीतिज्ञ थे। उन्होंने कालेज को मुस्लिम राजनीति का केन्द्र बना लिया। मुस्लिम राजनीति के असली जनक उन्हें ही मानना ठीक होगा। परन्तु वे और उनके साथी सदा सर सयद को आगे रखकर काम करते थे। बाद में ब्रिटिश सरकार ने इन तीनों कूटनीतिज्ञों की सेवाओं का पूरा-पूरा पुरस्कार दे दिया।

लार्ड डफरिन के काल में यह साम्प्रदायिक विष जिस हद तक पहुंचा था उसका भान उस समय के एक उदाहरण से हो जाएगा। लार्ड रिपन के जमाने तक स्थानिक स्वराज्य संस्थाओं के सदस्य सरकार द्वारा नामजद किए जाते थे और उनके अध्यक्ष सरकारी अधिकारी होते थे। लार्ड रिपन ने इस प्रथा को तोड़कर निर्वाचन की पद्धति जारी करनी चाही। सर सयद अहमद ने जो गवर्नर जनरल की कौंसिल के सदस्य नामजद कर लिए गए थे, १८८३ में कौंसिल में भाषण दिया : "साधारण चुनाव की पद्धति जारी करना हितकर नहीं है। हिन्दुओं का बड़ा सम्प्रदाय मुसलमानों के छोटे सम्प्रदाय के हितों को पूरा-पूरा निगल जाएगा।"

साम्प्रदायिकता के अंकुर

सन् १९०६ में दो दूसरी घटनाएं हुईं। कुछ अंग्रेज अधिकारियों ने मुसलमानों को उभारा कि वे वाइसराय मिंटो के पास एक शिष्टमंडल ले जाएं और अपने लिए अलग अधिकारों की मांग करें। आगाखां के नेतृत्व में यह शिष्टमंडल लार्ड मिंटो से मिला। इसने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की जोरदार मांग की। वाइसराय ने अपनी सहानुभूति दिखाई और शिष्टमंडल को एक शानदार वन भोज दिया। बाद में उन्होंने लिखा : "यह दिन बहुत ही महत्त्व का था" "यह भारतीय इतिहास का युग प्रवर्तक दिन था।"

दूसरी घटना ढाका में मुस्लिम लीग की स्थापना की थी। उपर्युक्त घटना से प्रेरणा पाकर ढाका के नवाब सलीमुल्ला खां ने "ब्रिटिश सरकार के प्रति मुसलमानों की वफादारी बढ़ाने और मुसलमानों के राजनीतिक तथा अन्य हितों की

रक्षा करने के लिए' वहां मुस्लिम लीग की स्थापना की। स्पष्टत लीग कांग्रेस के विरोध म खडी की गई थी। लार्ड मार्ले न 'कांग्रेस का मुकाबला करनेवाली घरेलू संस्था' कहकर इसका स्वागत किया था और सरकार स सिफारिश की थी कि वह इसका पोषण करे।

ये सब अंग्रेज अधिकारियों के बोए हुए और सर सैयद तथा उनके अनुयायियों के सींचे बीजों के अंकुर थे, जो बराबर बढते ही गए और अन्तत रक्तरंजित भारत विभाजन तथा पाकिस्तान के निर्माण के कारण बने। अंग्रेजों के हाथ म खेलकर और उनकी कृपा प्राप्त करकर थोडे स पढे लिखे कट्टर मुसलमानों की महत्त्वाकांक्षाए पूर्ण करने के लिए सारे राष्ट्र की आकांक्षा पूर्ति का प्रयत्न करने वाली कांग्रेस का विरोध उन्होंने उसके तीसरे अधिवेशन स ही शुरू कर दिया था। भारत और इंग्लैण्ड के अंग्रेजी समाचारपत्रों ने इन्हें इसम भरपूर प्रोत्साहन दिया था। कहानी इस प्रकार है

लखनऊ का कांग्रेस-विरोधी भाषण

कांग्रेस का पहला और दूसरा अधिवेशन बम्बई तथा कलकत्ता म तो जैसे तैसे कुशलपूर्वक निभ गया। इनम हिन्दू, मुसलमान ईसाई, पारसी आदि सभी लोग शामिल हुए। परन्तु जब तीसरे अधिवेशन का समय आया अंग्रेज अधिकारी बहुत नाराज हो उठे। उन्होंने उससे मुसलमानों को अलग रखने का जी-तोड प्रयत्न किया और इसके लिए सर सैयद से ज्यादा अच्छा आदमी और कौन मिल सकता था?

मद्रास के तीसरे अधिवेशन के अध्यक्ष उस समय के प्रसिद्ध मुस्लिम नेता श्री बदरुद्दीन तैयबजी मनोनीत हुए थ। अधिवेशन २८ दिसम्बर स होनेवाला था। इसी बीच दिसम्बर महीने म ही लखनऊ की एक बहुत बडी सभा में जिसमे मुहम्मडन एजुकेशनल कानफ्रेंस के लिए देश भर मे आए प्रतिनिधि भी शामिल थ सर सैयद ने एक अत्यन्त विषैला भाषण दे डाला। उसमे उद्धरण जो यहाँ नहीं उनमें से कुछ य हैं (पायोनियर इलाहाबाद ११ जनवरी, १८८८)

"सरकार कानून बनाने म जनता का पूरा सहयोग लेती है उनके विचारों का ख्याल किए बिना कोई कारवाई नहीं की जाती।

'उन्होंने कांग्रेस के आंदोलन को 'मूर्खतापूर्ण', कांग्रेस के अधिवेशनों को कलम के झगड़े मात्र— फ्रिक फ्रिक फ्रिक फ्रिक फ्रिक और बात का बतंगड़— 'बक बक बक बक बक' बताया।

उन्होंने बंगालियों को ऐसे लोग बताया, जो भोजन की छुरी देखकर ही कुरसी के नीचे खिसक जाएंगे।

'अगर आपको यह मंजूर है कि देश बंगालियों के शासन में पड़कर कराहता रहे और देश के लोग बंगालियों के जूते चाटते रहें तो, खुदा हाफिज! जल्दी से गाड़ी में कूदिए और आराम से मद्रास पहुंच जाइए। (कांग्रेस अधिवेशन में शामिल होने के लिए)।

लन्दन के 'टाइम्स' में छपा पत्र

बम्बई के टाइम्स आफ इंडिया' में इस भाषण की रिपोर्ट १७ जनवरी १८८८ को प्रकाशित हुई थी। परन्तु इस भाषण में जो बातें कही गई थीं वही लन्दन के 'टाइम्स' में २७ दिसम्बर को ऐन इंडियन मोहम्मडन के नाम से निम्न एक पत्र में प्रकाशित हुई थीं। पत्र को पढ़ने से मालूम होता था कि उसे लिखने वाला कोई उच्च अधिकारी है और वह किसी दूसरे की प्रेरणा से लिखा गया है। १८ जनवरी के टाइम्स आफ इंडिया' में उसे उद्धृत करके सर सैयद के भाषण पर संपादकीय लेख लिखा गया था। पत्र के कुछ वाक्यों का सारांश यह है

'इंडियन नेशनल कांग्रेस मुट्ठी भर बंगाली तथा पारसी लोगों द्वारा खड़ी की गई है।

'कलकत्ता के मुसलमानों ने अपने प्रतिनिधि भेजने से इनकार कर दिया है, क्योंकि उन्हें भारत सरकार पर पूरा विश्वास है और खास तौर से इस समय जब सरकार जरूरी सुधार जारी कर ही रही है, वे उसे बाध्य करना नहीं चाहते।'

'एंग्लो इंडियन पत्रों ने यह चर्चा शुरू कर दी है कि मुसलमान तो कांग्रेस में बिल्कुल शामिल हैं ही नहीं, इसपर भी क्या उसे भारत भर की राष्ट्रीय कांग्रेस कहा जा सकता है?"

'वस्तुतः कांग्रेस एक हिन्दू संस्था है। मुसलमान न तो उससे सम्बन्ध रखेंगे न सहानुभूति।

'टाइम्स आफ इंडिया' का संपादकीय लेख

'टाइम्स आफ इंडिया' के संपादकीय लेख में कहा गया था
"खाल उधेड़ देने वाला भाषण" "उन्होंने प्रातिनिधिक शासन की कल्पना को ही अव्यावहारिक और असम्भव बताया।

सयद अहमद साहब ने कहा था "मेरे भाइयो ! पठान, सयद, हाशिमी, कुरैशी बिरादरान ! आपके खून में इब्राहीम के खून की खुशबू भरी हुई है। आप फौज में कर्नल और मेजर की चमकदार लाल पोशाकें पहनकर शान से घूमें। इसलिए, मेरा कहना मानकर कांग्रेस का विरोध कीजिए और सरकार के साथ मिलकर रहिए।"

"अगर आप मेरी बात न मानेंगे और कांग्रेस का विरोध न करेंगे तो दूसरा नतीजा सिर्फ यह हो सकता है ब्रिटिश संगीनों के प्रहार और बंगालियों के जूते चाटना।"

मेरठ में १६ मार्च, १८८८ को एक भाषण करते हुए सयद अहमद साहब ने कुरान का हवाला देते हुए कहा "खुदा का फरमान है कि मुसलमान गैर मुसलमानों के दोस्त नहीं हो सकते। हां, ईसाई लोग कुरान शरीफ में आते हैं। उनके साथ मुसलमान सहयोग कर सकते हैं। अगर मुसलमान दोस्त हो सकते हैं तो सिर्फ ईसाइयों के ही सकते हैं।

इस भाषण में कांग्रेस से अलग रहने के लिए यह लोभ भी बताया गया था "आप चमड़े, हड्डी और कपास के निर्यात का सारा व्यापार अंग्रेजों से छीन सकेंगे और अंग्रेज कभी आपके आड़े नहीं आएंगे।

कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन के अध्यक्ष एक मुसलमान—श्री बदरुद्दीन तैयबजी थे। इसलिए सयद साहब के एक अनुयायी ने उन्हें पत्र लिखकर मांग की "कांग्रेस को आज हमारी जरूरत है। इसलिए कोई ऐसा तरकीब कीजिए कि मुसलमानों को कांग्रेस से कोई फायदा हो जाए।

तुरन्त पुरस्कार

बड़ी दिलचस्प बात यह है कि इंग्लैंड और भारत में अंग्रेज पत्रों और अधिकारियों ने सयद साहब के लखनऊ के भाषण की मुक्त कंठ से सराहना तो की ही,

उसके तीन दिन बाद उन्हें 'सर' की उपाधि से अनुगृहीत करने की सरकारी घोषणा भी हो गई।

सर सयद ने कांग्रेस के मुकाबले पर दर्जनों मुसलमान संस्थाओं की स्थापना की परन्तु वे धीरे धीरे बन्द हो गईं। फिर भी वे अपना काम तो कर ही गए। कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन के पहले बहुत दिनों तक अफवाहों का तांता बंधता रहा कि आज अमुक स्थान के मुसलमानों ने कांग्रेस में शामिल न होने का फैसला किया है, कल अमुक स्थान के मुसलमानों ने। और ये सब अफवाहें निराधार होती थीं।

सयद साहब १८८३ और १८८७ के बीच के ४ वर्षों में ही कैसे इतने बदल गए, यह राजनीति और मनोविज्ञान दोनों का विषय है।

आठ

अंधकार और प्रकाश

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक (१८५६ १९२०) १८८९ की बम्बई कांग्रेस में प्रतिनिधि बनकर पहली बार शामिल हुए। इसके पूर्व वे अपने पत्रों— 'मराठा' और 'केसरी' के द्वारा और पूना की 'सार्वजनिक सभा' तथा 'शिक्षा मंडल' के द्वारा स्वाधीनता की भावना जागृत करने में सफल हो चुके थे। बम्बई कांग्रेस में उन्होंने यह आवाज उठाकर कि कांग्रेस को स्वराज्य की भिक्षा मांगने की नीति छोड़कर प्रत्यक्ष कार्य करना चाहिए, कांग्रेस का रुख ही बदल दिया था। गोपाल कृष्ण गोखले और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का नरम दल उनसे सशंकित हो गया और आगे चलकर, जब लोकमान्य तिलक का रुख बराबर उग्र से उग्रतर ही होता गया कांग्रेस में दो स्पष्ट गुट बन गए—लोकमान्य का गरम दल और गोखलेजी का नरम दल। १९०८ तक जब लोकमान्य को ६ वर्ष का कारावास दंड देकर मांडले की जेल में भेज दिया गया, इन दोनों दलों में बहुत विरोध रहा। लोकमान्य की अनुपस्थिति में कांग्रेस नरम दल के ही हाथों में रही।

जैसे-जैसे कांग्रेस की प्रवृत्तियां जोर पकड़ती गईं अंग्रेज शासक मुसलमानों को अधिकाधिक भड़काते गए। सर सैयद अहमद ने हिन्दुओं और मुसलमानों के दो पृथक राष्ट्र होने का जो नारा उठा दिया था वह मुसलमान नेताओं के मन में घर कर गया। अंग्रेज शासकों के प्रोत्साहन और सहयोग से वे उससे बराबर चिपटे रहे और संसदीय शासन प्रणाली तथा संयुक्त निर्वाचन का विरोध करते हुए पृथक निर्वाचन की मांग करते रहे।

तब जिन्ना साहब कट्टर राष्ट्रवादी थे

श्री मुहम्मद अली जिन्ना १९०६ के कलकत्ता अधिवेशन में कांग्रेस में शामिल हुए थे। अधिवेशन के अध्यक्ष दादाभाई नौरोजी थे, जिनके जिन्ना साहब प्राइवेट

सक्रेटरी रह चुके थे और जिनका उनपर बहुत प्रभाव था। उस समय, उसके पहले और उसके बाद बहुत दिनों तक जिन्ना साहब बड़े कट्टर राष्ट्रवादी थे। उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों में मेल कराने के बहुत प्रयत्न किए थे। उनकी ही प्रेरणा से मुस्लिम लीग ने औपनिवेशिक स्वराज्य को अपना लक्ष्य घोषित किया था। उनकी ही प्रेरणा से कई वर्ष तक मुस्लिम लीग और कांग्रेस के अधिवेशन साथ साथ होते रहे थे। गोखले के वे परम प्रशंसक थे। एक बार उन्होंने कहा था 'मेरी महत्त्वाकांक्षा मुसलमान गोखले बनने की है।' राजमान्य गोखले ने भी उनके सम्बन्ध में एक बार कहा था 'उनमें सच्ची योग्यता है। साम्प्रदायिक राग द्वेष से वे मुक्त हैं, जिसके कारण वे हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के अच्छे से अच्छे दावा बनेंगे।' जिन्ना साहब ने हिन्दू मुसलमानों को एक समान सम्पूर्ण राष्ट्र बनाने की दिशा में बहुत कुछ किया, परन्तु पृथक निर्वाचन का जो लोभ दिखाकर अंग्रेजों ने हिन्दू मुसलमानों में सदा के लिए फूट के बीज बो दिए थे, उनके चंगुल से छूट निकलना उनके लिए भी सम्भव नहीं हुआ। १९१३ में उन्होंने कांग्रेस और मुस्लिम लीग में समझौता करा दिया था परन्तु कांग्रेस को पृथक निर्वाचन की शर्त तो स्वीकार करनी ही पड़ी थी। १९१६ की लखनऊ कांग्रेस में उनकी जिस १४-सूत्री व्यवस्था के आधार पर मुसलमान कांग्रेस में शामिल हुए थे उसमें भी पृथक निर्वाचन था ही। परन्तु १९१२ में मेल का जो उपक्रम शुरू हुआ था उसका परिणाम अनेक वर्षों तक बहुत सुखद रहा और अंग्रेज शासकों को उससे घबराकर नई कारवाइयां करनी पड़ी।

अब वह कांग्रेस के नरम दल का पतन का प्रयत्न करने लगी। जिस गरम दल का लोकमान्य के जेल से छूटकर आने पर (१९१४) गरम दल के साथ फिर अच्छा मेल हो गया था, वह १९१९-२० तक कांग्रेस से बिल्कुल अलग हो गया। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे अनेक महान नेताओं ने सरकारी पद स्वीकार कर लिए। यह कांग्रेस की एक बहुत बड़ी क्षति थी।

जिन्ना साहब भी १९२० में कांग्रेस से अलग हो गए। मुसलमान नेताओं के रूप में कांग्रेस में मौलाना मुहम्मद अली और उनके बड़े भाई मौलाना शौकत अली का प्रभाव बहुत हो गया। ये दोनों भाई कट्टर मुसलमान थे। केवल इसलिए कांग्रेस में शामिल हुए थे कि कांग्रेस ने महात्मा गांधी के नेतृत्व में खिलाफत का मामला अपना लिया था। जिन्ना साहब ने उस समय गांधीजी को चेतावनी दी

थी कि इन नेताओं को बढ़ाना राष्ट्र के लिए खतरनाक होगा परन्तु गांधीजी पर उनमें अटूट विश्वास बैठ चुका था। वे कहा करते थे कि "बड़े भाई मुझे अपनी जेब में रखते हैं।" समय आने पर अली बन्धु पूरी तरह से मुसलमानों के नेता बन गए।

फिर जब कट्टर मुस्लिम नेता बने

जिन्ना साहब इंग्लैंड में जाकर वकालत करने लगे। कई वर्ष बाद जब लौट कर भारत आए तब वे बहुत अधिक कट्टर मुसलमान बन चुके थे और दोनों सम्प्रदायों में एकता की सम्भावना बहुत दूर की वस्तु हो गई थी, जैसी कि अन्ततः साबित हुई।

१९२० में कांग्रेस द्वारा गांधीजी का असहयोग का कार्यक्रम स्वीकार कर लिया जाने पर नरम दल के जो नेता कांग्रेस से अलग हो गए थे उनके साथ कांग्रेस के नेताओं का छुटपुट संघर्ष होता रहता था। उसके कारण कांग्रेस के आन्दोलन में बाधाएं भी पड़ती थीं। १९३० के निकट आते आते मुस्लिम लीग का भी विरोध बढ़ गया, हालांकि उससे पहले साइमन कमीशन के आने पर जिन्ना साहब ने मुस्लिम लीग को यह सलाह दी थी कि उक्त कमीशन के बहिष्कार में मुसलमानों को कांग्रेस से मिल जाना चाहिए। फिर भी नेक बातों में अलग रहने की ही सलाह थी। उधर हिन्दू महासभा भी अपना रुख अधिकाधिक कट्टर बनाती जाती थी। इस प्रकार कांग्रेस के सामने तीन पक्षों के विरोध से निपटने की समस्या थी। बाद में डा० भीमराव अम्बेडकर के नेतृत्व में हरिजनों का भी संगठन हो गया, और वे अलग अधिकार मांगने लगे। इस संगठन के पीछे भी सरकार का ही हाथ और प्रोत्साहन था। गोलमेज परिषदों के बाद ब्रिटिश सरकार ने भारत पर एक साम्प्रदायिक निर्णय लादने का प्रयत्न किया जिसके विरोध में गांधीजी का आमरण अनशन करना पड़ा। परन्तु डा० अम्बेडकर के अन्ततोगत्वा गांधीजी का एक प्रस्ताव स्वीकार कर लेने पर वह भयंकर परिस्थिति टल गई।

हिन्दू मुस्लिम अलगाव का दूसरा कारण

हिन्दुओं और मुसलमानों में अलगाव पैदा होने का एक स्वाभाविक कारण

और भी है। जैसा पहले बताया जा चुका है, भारत में राजा राममोहन राय के काल से ही पश्चिमी सभ्यता की जागृति फैलने लगी थी। उस समय मुसलमान जनता अंग्रेज शासकों से नाराज और हताश थी क्योंकि उन्होंने मुसलमान राज्य को मिटा दिया था और फिर भी जनता कुछ कर नहीं सकती थी। अंग्रेज यह बात जानते थे और वे भी मुल्लाओं को शंका की दृष्टि से देखते थे। इस दुहरे कारण से मुसलमान समाज अंग्रेजों की लाई हुई पश्चिमी सभ्यता का कोई लाभ नहीं उठा सका। उसके मौलवी मुल्लाओं ने अंग्रेजों की सभ्यता तथा अंग्रेजी शिक्षा को गैर इस्लामी करार दे दिया था। दूसरी ओर, हिन्दुओं ने उसका भरपूर लाभ उठाया था। इन जाग्रत हिन्दुओं ने अपने समाज की भी उन्नति करने का प्रयत्न किया। स्वभावतः ही ये सब प्रयत्न हिन्दू ढंग के, हिन्दू सभ्यता और हिन्दू संस्कृति के अनुरूप थे।

हिन्दुओं ने आगे चलकर जो राजनीतिक आंदोलन शुरू किया उसमें भी हिन्दूपन आया, क्योंकि हिन्दू नेताओं का विश्वास था कि भारत की पुनरचना हिन्दू संस्कृति और धर्म के ही आधार पर हो सकती है। बंकिमचन्द्र चटर्जी की पुस्तक 'आनन्दमठ', जिसने राजनीतिक आंदोलन को प्रोत्साहन ही नहीं उसे जीवन प्रदान करने के लिए महान 'वन्देमातरम' गीत भी प्रदान किया, हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति की ही परिपोषक थी। उसमें भारतमाता को दुर्गा कहा गया है। दूसरी ओर लोकमान्य तिलक ने भी पहले-पहल मराठों को जगाने के लिए 'गणेशोत्सव' और 'शिवाजी उत्सव' का आश्रय लिया। गोवध को बन्द कराने और मसजिद के सामने बाजा बजाने की स्वतन्त्रता प्राप्त कराने के लिए प्रयत्न करके भी उन्होंने हिन्दू समाज को अपनी मुट्ठी में लिया। ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज और थियासाफिकल सोसाइटी के कार्य भी हिन्दू संस्कृति से ही सम्बन्ध रखते थे।

महत्त्वाकांक्षा और क्षोभ

इस प्रकार सार्वजनिक जीवन की नई लहर भले ही सचेतन रूप में पैदा न हो, हिन्दुत्व की धारा में ही उठी। शायद इसमें मुसलमानों को भी शामिल मान लिया गया। परन्तु मुसलमान अब तक हिन्दुओं में घुले मिले नहीं थे। भारत में इस्लाम का आगमन एक प्रसारशील धर्म के रूप में हुआ था। पहले के आक्रमणकारियों के

समान स्वयं बदल जानेवाला वह नहीं था—उसकी महत्त्वाकांक्षा भारत भर के हिन्दुओं को अपने दामन में ले लेने की थी। फलतः उसका व्यक्तित्व कायम रहा। धर्मान्तरित लोग हिन्दुओं से लड़ते झगड़ते तो नहीं थे, परन्तु इस्लाम की दीक्षा पाने पर शासक जाति में शामिल हो जाने का गौरव हाथ से जाने देना नहीं चाहते थे। इस मनोभूमिका पर देखा जाए तो यह स्वाभाविक ही था कि हिन्दुओं का प्रगति करते हुए देखकर वे भी अपना साम्प्रदायिक संगठन करते।

सारे राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए हिन्दुओं के साथ मिलकर लड़ते और स्वतन्त्रता मिल जाने पर हिन्दुओं के साथ अपना हिसाब किताब करते—यह तर्क बहुत महत्त्वपूर्ण है। हिन्दुओं के लिए यह स्वाभाविक भी है। परन्तु जब एक नाराज़, विपद्ग्रस्त असहाय समाज को, जो मुसलमानों का था, यह लोभ दिखाया जाए कि तुम्हारी हालत बिना लड़े ही सुधर सकती है केवल हिन्दुओं से या कांग्रेस से अलग रहकर सरकार के प्रति वफादारी की घोषणा कर देना ही इसके लिए काफी होगा तब वह कैसे न लोभ में आ जाए? उसके सामने दो उपाय थे हिन्दुओं से लड़ना या अंग्रेज सरकार से लड़ना। अंग्रेजों से लड़ने में बहुत कष्ट उठाना पड़ता, हिन्दुओं से लड़ने में अंग्रेज सरकार की संगीनों की मदद भी मिल जाती है और लाभ भी साथ ही साथ होता जाता है। इसलिए यदि लड़ना ही जरूरी है तो हिन्दुओं से लड़ना ही ठीक होगा—यही वृत्ति उसकी हो सकती थी और हुई।

लार्ड कर्जन और बंग-भंग

लार्ड लिटन और लार्ड डफरिन ने वाइसराय रहते हुए मुसलमानों में पृथक् निर्वाचन की माँग करने का आग्रह पैदा कर ही दिया था। लार्ड कर्जन ने उसे एक कदम और आगे बढ़ाया। उसने मुस्लिम बहुल प्रांतों का निर्माण करने और जाग्रत बंगालियों को कमजोर कर देने के ख्याल से बंगाल के दो टुकड़े कर दिए। बंगाल के नेताओं ने ही नहीं, सारे भारत के नेताओं ने इस कार्रवाई का विरोध किया, इसकी निन्दा की, परन्तु लार्ड कर्जन टस से मस न हुआ। और जब बंगाल की जनता ने आन्दोलन शुरू किया तब उसने घोर दमन चक्र चला दिया। बंगाल ने ब्रिटिश माल का बहिष्कार करके इसका मुकाबला किया। इसपर वहाँ सभाएँ करने, अखबारों में सरकार विरोधी लेख लिखने आदि पर प्रतिबन्ध लगाए गए और युवकों की गिरफ्तारियाँ होने लगीं। आखिर स्कूलों और कालेजों के विद्या

यिया ने छुप छुपकर बम बनाने शुरू किए और अंग्रेज अफसरा की जानें भी ली। सरकार अपना दमन चक्र चलाती ही रही, और आन्दोलन बढता ही गया। इसी सिलसिले म लोकमान्य तिलक को ६ वष की सजा दकर बर्मा की जेल म रख दिया गया। लाला लाजपत राय का देशनिकाला दिया गया, श्री अरविन्द पर मुकदमा चलाया गया। सकडा युवका को बिना मुकदमा चलाए जेला में बन्द कर दिया गया। नरम दलवाले नेताओ का भी सरकार पर कोई प्रभाव न पडा, और वे खिन्न हुए।

इसी बीच, लाड कजन और भारत क प्रधान सेनापति लाड किचनर म जोरो का मतभेद हो गया, इसलिए कजन त्यागपत्र देकर चला गया (१९०५)। परन्तु उसक बाद लाड मिंटो (१९०५ १०) ने भी उसीकी दमन-नीति जारी रखी।

लाड हार्डिंग और मार्ले मिंटो सुधार

उसके बाद लाड हार्डिंग आया। उसक जमाने मे राजा पचम जाज भारत आनेवाल थ (१९११)। उनके लिए आयोजित दरबार को सफल बनान क लिए उसे भारतीय नताआ को प्रसन्न करना था और बगाल म, विशेषत कलकत्ते मे, शान्ति भी स्थापित करनी थी। इसलिए उसने बग विच्छेद को उलट दिया और बगाल फिर से अखड हो गया। इसी बाच उसन भारत की राजधानी कलकत्त म दिल्ली हटा दी। इमसे नरम दल के नेता सरकार स फिर सहयाग करने लग।

मुसलमानो को भा अपनी ओर अधिक खींचने क लिए यह अवसर अच्छा था। उन्ह और भी कुछ लोभ दिखाया जा सकता था, क्योकि समाज म जागति न हाने क कारण उनको लोभ देने का अथ उनके कुछ नताआ का फायदा पहुचा देना मात्र हाता था, जो सरकार क लिए बहुत आसान था। वास्तव मे ता सरकार उनक प्रति भा वही व्यवहार करती थी जो हिन्दुओ के साथ। १९०९ म उसने मुसलमाना और नरम दल क नताआ को खुश करने के लिए मार्ले मिंटो सुधारा की घोषणा की। उन सुधारा म पृथक निर्वाचन को स्वीकार करके मुसलमाना की इच्छा पूण की गई और देश मे सदा क लिए साम्प्रदायिकता का बीज बो दिया गया।

कौंसिला म्युनिसिपलिटिया आदि मे चुनेहुए सदस्या की सख्या बढाकर नरम दलवाला को खुश कर दिया गया। परन्तु वास्तव म य सुधार बहुत भयानक थ।

दुधारी नीति

पथक निर्वाचन की व्यवस्था करके मुसलमानों को खुश करने के साथ ही उनकी भावनाओं को भयानक चोट पहुचाने में भी ब्रिटिश सरकार ने सकोच नहीं किया। टर्की का सुल्तान मुसलमानों का खलीफा भी था। उसके राज्य के विभिन्न भागों में विद्रोह खडा हो गया और राज्य के नष्ट होने के आसार दिखाई देने लगे। विद्रोह रूस की सहायता और ब्रिटेन की कूटनीति के कारण बढता जा रहा था। भारत के मुसलमान इससे चिंतित थे। उन्होंने ब्रिटिश सरकार से बहुत आरजू मिन्नतें की कि टर्की के सुल्तान की रक्षा की जाए परन्तु ब्रिटिश सरकार अपने रुख पर अडी रही। इससे मुसलमानों को बहुत धक्का पहुचा और ब्रिटिश के प्रति उनकी वफादारी खत्म हो गई। इसका एक कारण और भी था। दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों पर बहुत अत्याचार किए जा रहे थे। वहा मुसलमान व्यापारियों की सख्या अधिक थी। ब्रिटिश सरकार का रुख उनके प्रति सहायतापूर्ण नहीं था। गाधीजी को उनके अधिकारों के लिए सत्याग्रह आन्दोलन चलाना पड रहा था। इन अत्याचारों के समाचार भारत पहुचते थे और यहा की जनता का खून खौलता था।

मुसलमान जनता भी इस प्रभाव से बरी न रह सकी। इसी समय भारत की मुस्लिम लीग की बागडोर कुछ नये विचारों के युवकों के हाथ में आ गई। श्री जिन्ना के नेतृत्व में उन्होंने काग्रेस के साथ मिलकर स्वराज्य-सघर्ष में भाग लेना तय कर लिया। यह अधेरे में प्रकाश की एक झलक थी। लीग का यह रुख लगभग १० वर्ष तक चला। बाद में उसमें फिर परिवर्तन होता गया और वह बराबर अलगाव की ओर बढती ही चली गई।

जलियावाला बाग का हत्याकाण्ड

गाधीजी १९१५ के आरम्भ में दक्षिण अफ्रीका से भारत वापस आ गए। चम्पारन, खेडा और अहमदाबाद के मजदूरों के सत्याग्रह का सचालन करने में उन्हें जो सफलता मिली वह हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों की सफलता थी। उससे मुसलमानों का विश्वास उनपर और भी जम गया—दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के कारण तो उनपर विश्वास था ही। बाद में उन्होंने खिलाफत आन्दो

लन को अपने हाथ में ले लिया और मौलाना मुहम्मद अली तथा मौलाना शौकत अली की रिहाई की कोशिशें भी जा सफल हुई। इन कारणों से जब उन्होंने १६१६ में रौलट एक्ट के विरुद्ध सत्याग्रह की घोषणा की उस समय सारा देश उनके साथ था। बेशक, नरम दल के नेता उनकी आलोचना करते थे।

आन्दोलन के फलस्वरूप पंजाब में जो अत्याचार हुए और अन्त में जलियावाला बाग का जो भीषण और अमानुषिक हत्याकाण्ड हुआ उन सबमें हिन्दुओं, मुसलमानों और सिखों का खून एक साथ बहा। कहते हैं कि शहीदों के खून से एकता की नींव पक्की होती है। परन्तु जलियावाला बाग में बहे खून का गारा अपनी ताकत बहुत दिनों तक टिकाए न रह सका। कुछ ही वर्षों बाद कोहाट में फिर हिन्दू, मुसलमानों और सिखों के खून से धरतीमाता का वक्ष लाल हुआ—इससे भारतीयों का मस्तक ऊंचा होने के बजाय नीचा हुआ और जो स्वतन्त्रता निकट आ रही थी वह दूर हो गई। उसकी पवित्रता और अखण्डता में बट्टा लग गया।

नौ

गांधीजी के नेतृत्व में स्वराज्य-संग्राम

चंपारन, खेड़ा और अहमदाबाद के सत्याग्रह के बाद रौलट ऐक्ट का विरोध करने पर पंजाब में जो अत्याचार और जलियांवाला बाग में जो हत्याकाण्ड हुआ उससे मर्माहत होकर जब १९१९ में गांधीजी ने सारे देश के स्वतन्त्रता संग्राम की बागडोर अपने हाथ में ली उस समय देश की स्थिति यह थी :

गांधीजी रंगभूमि पर : देश की स्थिति

१. हिन्दुओं और मुसलमानों में ऐक्य हो गया था। १९१६ की लखनऊ कांग्रेस में जिन्ना साहब के चौदह सूत्रों के आधार पर हिन्दू मुसलमानों में समझौता हो गया था। जिन्ना साहब के सुझाव पर मुस्लिम लीग ने अपना वार्षिक अधिवेशन कांग्रेस के अधिवेशन के साथ ही उसी शहर में करना स्वीकार कर लिया था। इसके अनुसार लखनऊ कांग्रेस के समय वहीं लीग का अधिवेशन भी हुआ था।

२. कांग्रेस ने लखनऊ समझौते के द्वारा मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचन का सिद्धान्त मान लिया था।

३. कांग्रेस के नरम और गरम दलों का भेद मिट गया था और लोकमान्य तिलक ने हिन्दू मुस्लिम समझौता सम्पन्न कराने के लिए बहुत प्रयत्न किया था। 'लखनऊ' शब्द का श्लेष करते हुए उन्होंने कहा था : "लखनाउ हैज ब्रॉट अस लक नाउ" अर्थात् लखनऊ में हमारा सद्भाग्य उदित हुआ है।

४. खिलाफत आन्दोलन को महात्मा गांधी ने अपने हाथों में ले लिया था और उसे स्वराज्य-आन्दोलन के साथ-साथ चलाने का निश्चय किया था। खिलाफत आन्दोलन को अपनाने की सम्भावना के कारण मुसलमानों ने स्वराज्य आन्दोलन में दिल जान से कूद पड़ना स्वीकार किया था।

५. बंगाल तथा अन्य प्रान्तों में आतंकवादी युवकों ने अपनी हिंसात्मक

कारवाइयां बंद कर दी थीं। उनमें से कुछ लोगों ने गांधीजी का अहिंसा का मार्ग स्वीकार कर लिया था, कुछ निष्क्रिय हो गए थे और बहुत-से जेलों में पड़े थे। मुसलमानों ने भी नीति के तौर पर अहिंसा का मार्ग स्वीकार कर लिया था।

धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि सभी क्षेत्रों में स्थिति अत्यंत दयनीय थी। जनता धारा पतित जैसा निरुद्देश्य, निष्प्रयोजन जीवन व्यतीत कर रही थी। उसका तेज दासता की काली चादर से ढक गया था। वह श्वास ले रही थी, इतना ही बहुत था।

असहयोग और सत्याग्रह

गांधीजी ने सम्पूर्ण देश के भूत, वर्तमान और भविष्य को सम्यक् दृष्टि से देखा—उसके जीवन के विभिन्न अंगों पर विचार किया, उसकी समस्याओं को समझा, उसकी प्रकृति और उसकी आवश्यकताओं का अनुभव किया, आगे आने वाली कठिनाइयों का अनुमान किया, पिछले स्वतंत्रता प्रयत्नों की विफलता के कारणों का आकलन किया और बाद में स्वराज्य-संग्राम के लिए सत्य और अहिंसा के आधार पर एक ऐसा अमोघ तथा व्यावहारिक अस्त्र प्रदान किया, जिसपर पहले तो सारा संसार हंसा, फिर कौतूहल करने लगा और अंत में मुग्ध हो गया। इस अस्त्र के बदले जीवन पद्धति कहना अधिक उपयुक्त मालूम होता है क्योंकि श्रेष्ठ जीवन उसीके आधार पर—अहिंसामय सत्याग्रह के ही आधार पर—वहन किया जा सकता है वह सम्यक् जीवन का भी सम्बल है। जीवन का कोई अंग उससे छूटता नहीं और पराधीनता उसके पास नहीं भटक सकती। वह आत्मबल विकसित और प्रयुक्त करने का तरीका है।

उन्होंने जो मार्ग बताया और जिसपर भारत को जाग्रत करके आगे बढ़ाया, उसके मुख्य दो पहलू थे : एक ओर उन्होंने ब्रिटिश शासन के प्रति अहिंसात्मक असहयोग, सविनय अवज्ञा और सत्याग्रह की शिक्षा दी, दूसरी ओर अपने दोषों और कमियों को दूर करके अहिंसात्मक सत्याग्रह के ही आधार पर राष्ट्रीय जीवन का पुनर्निर्माण करने को कहा।

असहयोग के मुख्य विषय थे : (१) कौंसिलों का बहिष्कार, (२) सरकारी और सरकारी सहायता प्राप्त स्कूल-कालेजों का बहिष्कार, (३)

सरकारी नौकरियो का बहिष्कार, (४) अदालतो का बहिष्कार, जिसम वकीलो का वकालत छोडना भी शामिल था (५) सरकारी उपाधिया अवतनिक पदो और नामजदगिया का त्याग, (६) सरकारी दरबारो उत्सवा दावतो आदि का बहिष्कार (७) विदेशी वस्त्र का बहिष्कार, (८) मेसोपोटामिया म नौकरी करने के लिए सनिक क्लक, मजदूरो आदि की भर्ती का बहिष्कार और (९) मद्य निषेध।

रचनात्मक कायक्रम

इतना ही काय बहुत बडा था पर तु इसके साथ अनक रचनात्मक काय भी जोड दिए गए थे, जि ह इस असहयोग यज्ञ की पूर्णाहुति मानना चाहिए। सरकारी विद्यालयो के बहिष्कार के साथ राष्ट्रीय विद्यालयो की स्थापना और उनम अध्ययन, अदालतो का बहिष्कार करके पचायतो की स्थापना और उनके द्वारा अपने झगडो को निपटाना और विलायती वस्त्र के बहिष्कार के साथ हाथ स कताई-बुनाई और खादी का प्रचार शामिल था। इस दुहरे कायक्रम से उन लोगो के काय की व्यवस्था हो गई, जो बहिष्कार करने के कारण बेकार हो। वास्तव म यह रचनात्मक काय सच्चे स्वराज्य की तयारी थी। खादी का काम या तो देशवासियो को थोडा बहुत काम देने और उन्हे कमान का जरिया बनाने का है परन्तु वास्तव म उस एक ही वस्तु म गाधीजी की अहिसा का सारा तत्त्वज्ञान समाया हुआ है। उसमे सत्य न्याय प्रम करुणा और प्रायश्चित्त सबकुछ समाया हुआ है। वास्तव म खादी अहिसा का प्रतीक है दरिद्रनारायण क साथ घुलमिल जाने का साधन है। परन्तु गाधीजी के रचनात्मक कार्यों की सूची लगातार बढ़ती ही गई। अन्त म उसम १८ काय शामिल हो गए थे, जो ये हैं

(१) कौमी एकता, (२) अस्पृश्यता निवारण, (३) मद्य निषेध (४) खादी, (५) दूसरे ग्रामोद्योग, (६) गावो की सफाई (७) बुनियादी तालीम, (८) प्रौढ शिक्षा, (९) स्त्रियो की उन्नति (१०) आरोग्य, (११) प्रान्तीय भाषाओ का उपयोग और विकास (१२) राष्ट्रभाषा का प्रचार (१३) आर्थिक समानता (१४) किसानो की उन्नति (१५) मजदूरो की उन्नति, (१६) आदिवासियो की सेवा (१७) कुष्ठरोगियो की सेवा, (१८) विद्यार्थियो का चारित्र्य निर्माण और (१९) गो-सेवा।

समग्र दृष्टि

इस सूची को समग्र दृष्टि से देखने पर स्पष्ट हो सकता है कि गांधीजी ने सम्पूर्ण राष्ट्र-जीवन के संगठन और पुनर्निर्माण के साथ-साथ ही अंग्रेजों से स्वराज्य छीनने का कार्यक्रम चलाया था। एक वाक्य में कहा जाए तो एक ओर स्वराज्य प्राप्त करने और दूसरी ओर उसे ग्रहण करने, उसका सुचारु संचालन करने और उसे टिकाने की तैयारी करने का उनका लक्ष्य था। जब स्वराज्य आये तब हम उसके लिए अयोग्य या निकम्मे न पाए जाएं यह उनकी चिन्ता थी।

यह तो भौतिक दृष्टि हुई। आध्यात्मिक दृष्टि से तो, जिसका वे राष्ट्र में विकास करने को व्याकुल थे, वे मानते ही नहीं थे कि जिसमें पर्याप्त आत्मबल है वह कभी गुलाम हो सकता है। व्यक्तिगत बातचीत में तो वे यह भी कहा करते थे कि जिन भारतीयों में आत्मबल है वे अपने आप को स्वतन्त्र मानकर व्यवहार करें। किन्तु वे देश के सार्वजनिक जीवन की दुर्बलताओं से अनभिज्ञ नहीं थे इसलिए उन्होंने सार्वजनिक रूप से अपने इस विचार का प्रचार नहीं किया।

भौतिक और सार्वजनिक दृष्टि से विचार करने पर इनमें से बहुत से कार्यक्रम तो ऐसे दिखलाई पड़ेंगे जिन्हें पूरा किए बिना सच्चा स्वराज्य प्राप्त करना संभव था ही नहीं। उदाहरण के लिए कौमी एकता, अस्पृश्यता निवारण, खादी, प्रान्तीय भाषाओं तथा राष्ट्रभाषा का प्रचार, किसान मजदूरों की उन्नति, विद्यार्थियों का चारित्र्य निर्माण आदि। बाद की घटनाओं और परिस्थितियों से सिद्ध हो गया कि हम जिस हद तक इस कार्य शृंखला को पूर्ण कर सके उसी हद तक हम स्वराज्य के अधिकारी हुए। अंग्रेजों का जाना और उनके स्थान पर भारतीयों का बैठ जाना गांधीजी की दृष्टि के अनुसार सच्चा स्वराज्य नहीं है। भारत के विभाजन और पाकिस्तान के निर्माण का अवकाश भी गांधीजी की योजना में नहीं था, यह कौमी एकता की कमी के कारण संभव हुआ। यदि उनका कार्यक्रम पूरा हो गया होता तो देश भाई भाई के अवर्णनीय रक्तपात और पारस्परिक विद्वेष के स्थायी बीजारोपण से तो बच ही जाता, साथ ही आज सारे देश में जो असन्तोष फैला हुआ है वह भी न फैलता। सच्चे स्वराज्य का मार्ग तो

वता देने–और पटा देने–के बाद उनसे कहते थे "यदि मेरी बात तुम्हें पट गई हो त ही उसका पालन करो, नही तो और समझो, बिना समझे उसे मत मानो।" सत और अहिंसा की आराधना जसी उन्होने की थी वसी और किसीने नही की। इस लिए स्वाभाविक था कि उनकी दृष्टि दूसरो को प्राप्त नही थी। फलत बहुत लोग उनकी बात सुनकर पहले तो चकरा जाते थे, बाद म उसे समझने पर उसकी ओर कौतुक की दृष्टि से देखते थे, और फिर भी व्यावहारिक जीवन मे अपने शेष विचारो स उसका समन्वय नही कर पाते थे। इसके लिए साधना आवश्यक थी उनकी 'अन्तरात्मा की आवाज' से भी दूसरो के मन म बहुत उलझन पदा होती थी परन्तु उनको अतरात्मा की आवाज ने उन्ह या देश को कभी धोखा खाना नही पडा।

इन सब झनमल और कठिन परिस्थितियो म गाधीजी ने राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य सग्राम की बागडोर सभाली और सग्राम में विजय प्राप्त की।

सत्य-अहिंसा पर आधारित उनका स्वातन्त्र्य सग्राम उन रचनात्मक कार्यों स अलग हो ही नही सकता था, जिनकी सूची ऊपर दी गई है। उनके लिए जीवन अखड था, इसलिए व्यक्ति का जीवन हो या राष्ट्र का उसकी साधना वे सम्पूर्ण रूप म ही कर सकते थे। परन्तु जिस प्रकार योग पूर्ण न होने पर भी व्यर्थ नही जाता जिस हद तक वह पूर्ण हुआ है उस हद तक तो लाभ करता ही है उसी प्रकार गाधजी की जीवन साधना भी व्यर्थ होनेवाली वस्तु नही थी। जिस हद तक राष्ट्र ने उसे सिद्ध किया उस हद तक उसे उसका लाभ मिल गया और मिलता रहेगा।

उन्होने राष्ट्र को एक बुरी शासन-व्यवस्था हटाने की प्रेरणा दी केवल इस लिए कि वह बुरी थी उनके सत्य ने देखा कि उस बुरी वस्तु के स्थान म रिक्तता नही रह सकती अच्छी वस्तु की स्थापना आवश्यक है। इसलिए उन्होने साथ हो साथ अच्छी वस्तु की रचना भी आरम्भ करदी। बुरी के स्थान पर बुरी वस्तु को ही स्थापित कर देना सत्य के अनुरूप न होता।

सबका योग अपेक्षित

उन्होने यह भी देखा कि नई व्यवस्था में सबका योग होना चाहिए, उसका लाभ हर व्यक्ति को मिलना चाहिए। सबके योग के बिना नई व्यवस्था सभव भी नही है। दरिद्रनारायण को भोजन-वस्त्र तथा जीवन की अन्य सुविधाए दिए बिना कोई काम नही चल सकता, धर्म का पालन नहीं हो सकता, सग्राम भी

सफल नहीं हो सकता। इसलिए उन्होंने देश को खादी और ग्रामोद्योग का मंत्र दिया और लोगों से कहा "ईमानदारी से परिश्रम करो, आत्मनिर्भर बनो।" उपभोक्ताओं से कहा "ठीक मूल्य दो और अपने देश के दरिद्रनारायण की बनाई हुई वस्तुओं का ही उपभोग करो।"

दूसरा संदेश उन्होंने दिया "हिन्दू मुसलमान का भेद मिटाओ, सब एक होकर भाई भाई जैसे रहो।" खादी के काम से देश के लाखों मुसलमान जुलाहों का उदर पोषण हुआ, हिन्दू मुसलमान का भेद किसीके मन में भी नहीं आया।

उनका तीसरा संदेश था "जिनके प्रति तुम—सवर्ण हिन्दू—सदियों से दुर्व्यवहार, अत्याचार करते आ रहे हो, जिनकी छाया से भी तुम अपवित्र हो जाते हो, वे हरिजन हैं, भगवान के जन हैं, तुम्हारे ही जैसे मनुष्य हैं। वे तुमसे बड़े भी हैं क्योंकि अपना जो काम तुम नहीं कर सकते, और जिसके बिना तुम्हारा जीवन ही दूभर हो जाएगा उसे वे करते हैं, तुम्हारी सेवा करते हैं। उन्हें संभालो, उनके साथ भाई-चारे का व्यवहार करो, उनके प्रति किए पापों का प्रायश्चित्त करो—इसलिए नहीं कि वे तुम्हारे संग्राम में तुम्हारी मदद करें वरन् इसलिए कि इससे तुम्हारी आत्मा का कल्याण होगा।"

बुराइयों को दूर करने की शिक्षा

"इसी प्रकार तुम स्त्री जाति के प्रति सदियों से अत्याचार करते आ रहे हो। स्त्रियों को तुमने गुलाम और बच्चे पैदा करने की मशीन मात्र बना रखा है। देहातों की तुमने उपेक्षा की है। शराब जैसी नशीली वस्तुओं के फंदे में तुम फंसे हुए हो। अन्नदाता किसानों और निर्माणकर्ता मजदूरों के शोषण पर तुम जी रहे हो। इन सब बुराइयों को दूर करो। अपने बच्चों का दिल, दिमाग और हाथ—तीनों की शिक्षा दो, जिससे भारतमाता का भविष्य उज्ज्वल बने। गाय तुम्हारे लिए कामधेनु है। उसके तुमपर असहय और अपार उपकार हैं। उसका वध न किया जाए, इसकी रट लगाना और उसकी वध रक्षा के लिए आपस में लड़ते रहना ही तुम्हारा कर्तव्य नहीं है। उसका उचित ढंग से पालन करो। मूक और पराधीन माता की तरह उसकी सेवा करो जिससे उसे सुख मिले, उसकी वंशोन्नति हो और वह तुम्हारे ही लिए सच्ची कामधेनु बन जाए। कुष्ठरोगियों का भी तुमने कितना तिरस्कार कर रखा है। उनसे तुम घृणा करते हो, जिससे उनका कष्ट और बढ़

दस

गाधीजी का स्वराज्य का आदर्श

गाधीजी ने अपन आदर्श स्वराज्य की झलक अपनी छोटी सी पुस्तक हिन्द स्वराज म दी है। पुस्तक म पाश्चात्य सभ्यता की तीव्र आलोचना करते हुए उन्होंने कहा

शैतानी सभ्यता

"इस्लाम की निगाह से इस सभ्यता को शैतानी सभ्यता कहना होगा। हिन्दू धर्म के अनुसार इसे घोर कलियुग कहा जाएगा। भारत म जहा यह पागल सभ्यता नही पहुची है वहा अब भी वह हालत मौजूद है जो पहले किसी समय थी। जिन लोगो को देश की लगन हो उन्हे मैं सलाह दूगा कि पहले देश के उस हिस्से म जाओ जहा अभी तक रेलगाडी की पहुच नही हुई है और छ महीने तक वहीं घूम फिरकर सच्ची देशभक्ति अपने अन्दर पैदा करो। उसके बाद स्वराज्य की बातें करना।

गाधीजी भारतीय सभ्यता के अनुरूप स्वराज्य का निमाण करना चाहते थ जो उनके इन शब्दो म भी व्यक्त है

मेरा स्वराज्य भारतीय सभ्यता की प्रकृति को अक्षुण्ण रखना। मैं बहुत-कुछ नई खरीद करना चाहता हू परन्तु वह सब भारतीय नीव पर ही होनी चाहिए। मैं उस हालत म पश्चिम का ऋण लेने को तैयार हू जब मुझे दृढ विश्वास हो जाए कि मैं अच्छे ब्याज के साथ उसको अदा कर सकूगा।

यग इंडिया २६ ६ २४

हिन्द स्वराज' पुस्तक १९०९ म लिखी गई थी। १९२१ म उसका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ। इस समय गाधीजी ने अपने मूल विचारो म कोई परिवतन करना जरूरी नही समझा। उन्होंने इतना ही कहा कि यदि हो सकता तो मैं इसम

में दूसरों का मन दुखनेवाला एक आध कड़ा शब्द बदल देता। अंग्रेजी संस्करण की प्रस्तावना में उन्होंने कहा है

'परन्तु मैं अपने पाठकों का ध्यान इस ओर खास तौर से खींचना चाहता हूं कि आज मेरा लक्ष्य वह स्वराज्य नहीं है जिसका वर्णन इस पुस्तक में किया गया है। ऐसा कहना दिखाई तो मालूम होगा, पर मुझे पक्का विश्वास यही है कि मैं खुद तो उसी स्वराज्य के लिए प्रयत्नशील हूं जिसका चित्र इस पुस्तक में खींचा गया है मगर हम सब लोग मिलकर जो काम कर रहे हैं वह भारत के लोगों की इच्छाओं के अनुसार पार्लामेंटरी स्वराज्य पाने का है।

संसदीय पद्धति में सच्चा लोकतन्त्र नहीं

पार्लामेंटरी पद्धति को गांधीजी सही चीज नहीं मानते थे। हिन्द स्वराज में उन्होंने कहा है

'इंग्लैंड की इस समय जो हालत है उसे देखकर तो सचमुच दया आती है। और मैं तो ईश्वर से मनाता हूं कि कभी हालत भारत की कभी न हो। जिसे आप पार्लामेंटों की मां कहते हैं वह इंग्लैंड की पार्लामेंट तो बांझ और वेश्या है। ये दोनों शब्द कड़े हैं पर उसपर पूरी तरह लागू होते हैं।'

'पर आज इतना तो सभी स्वीकार करते हैं कि पार्लामेंट के सदस्य ढोंगी और स्वार्थी होते हैं।

जिस दल का जो सदस्य होता है वह उसी दल को आंखें मूंदकर अपना मत देता है क्योंकि अनुशासन के खयाल से वह ऐसा करने के लिए लाचार है। अपवाद के रूप में कोई इसमें निकल जाय तो उसे बागी और उसके काम को बगावत समझा जाता है।

यही बातें सब जगह की पार्लामेंटों या संसदों में होती हैं। ऐसी संसदों और संसद प्रणाली को गांधीजी कैसे मंजूर कर सकते थे, जो कहते थे

'केन्द्र में बैठे हुए बीस आदमी सच्चा लोकतन्त्र नहीं चला सकते। उसका संचालन तो नीचे से प्रत्येक गांव के लोगों द्वारा होना चाहिए'।

'हरिजन', १८-१-१९४८।

'स्वराज्य का अर्थ है अनेक लोगों द्वारा शासन। जहां वे अनेक लोग दुराचारी या स्वार्थी हों वहां उनके शासन का परिणाम अराजकता ही होगा —

नही हो सकता।' यग इडिया, २८–७–२१

'मैं लोकतान्त्रिक हू'

गाधीजी सच्चे लोकतान्त्रिक थे। वे कहते थे

"यदि दरिद्रतम मनुष्यो के साथ पूर्ण अभिन्नता स्थापित कर लेने से उनसे ज्यादा अच्छी हालत मे न रहने की तीव्र आकुलता से और, साथ ही, उस स्तर को प्राप्त करने के लिए पूरी शक्ति से और सोच समझकर किए गए प्रयत्नो से किसीको लोकतान्त्रिक कहलाने का अधिकार मिल सकता है, तो मैं दावा करता हू कि मैं लोकतान्त्रिक हू। बाम्बे क्रानिकल १८–९–१९३४

अपनी इसी लोकतान्त्रिक वृत्ति के कारण सिद्धान्तो पर तो नही, परन्तु अपने आदर्शो और विस्तार के प्रश्नो पर उन्होने जीवन भर अपने साथियोके साथ समझौते किए। इसी वृत्ति के कारण ससदीय शासन पद्धति के विरोधी होते हुए भी उन्होने उसकी प्राप्ति मे सहायता की—यद्यपि उन्हे यह आशा अवश्य रही होगी कि स्वराज्य आ जाने पर इस पद्धति मे आवश्यक सशोधन और परिवर्तन कर लिया जाएगा। अवश्य इसी आशा पर उन्होने अपना चोला छोडने के एक दिन पूर्व २९ जनवरी १९४८ को काग्रेस के लिए एक नया विधान तैयार किया था जो उन्होंने अपने देहावसान के चार घटे पूर्व काग्रेस के महामन्त्री को काग्रेस के सामने विचारार्थ पेश करने के लिए दे दिया था और जो १५ फरवरी १९४८ के हरिजन मे प्रकाशित हुआ था। यह गाधीजी का आखिरी लेख था इसलिए उसको आखिरी वसीयतनामा कहना अनुचित न होगा। पूरे लेख का अनुवाद इस प्रकार है

काग्रेस की जगह, लोक सेवक सघ

भारत के दो भाग हो गए फिर भी भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस ने जो तरीके निकाले थे उनसे भारत ने राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली है। इस लिए वर्तमान रूप मे अर्थात् प्रचार के साधन और ससदीय यन्त्र के रूप मे, काग्रेस की अब कोई जरूरत नही रही। भारत को अब भी सात लाख गावो की सामाजिक नैतिक और आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करनी है। इन गावो की समस्याए छोटे बडे शहरो की समस्याओ से भिन्न हैं। भारत जैसे-जैसे अपने लोकतन्त्रात्मक

लक्ष्य की ओर बढ़ेगा वैसे-वैसे नागरिक शक्ति सैनिक शक्ति पर काबू पाने के लिए संघर्ष किए बिना न रहेगी। इस संघर्ष को राजनीतिक दलों और साम्प्रदायिक संस्थाओं की हानिकारिक स्पर्धा से मुक्त रखना जरूरी है। इन कारणों से और इसी तरह के दूसरे कारणों से अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी निश्चय करती है कि वर्तमान कांग्रेस संगठन विसर्जित कर दिया जाए और वह निम्नलिखित नियमों के अधीन—जिनमें समयानुकूल परिवर्तन किया जा सकता है—एक लोक सेवक संघ के रूप में पुष्पित तथा विकसित हो जाए :

'गांव के या गांव की शान रखनेवाले पांच वयस्क पुरुषों या स्त्रियों की हर पंचायत एक इकाई मानी जाएगी।

इस तरह की दो पास पास की पंचायतें मिलकर अपना एक नेता चुनेंगी और उसके अधीन एक काम करनेवाला जत्था बनाएंगी।

'जब इस तरह की सौ पंचायतें हो जाएंगी तब उनके पचास पहले दर्जे के अपने में से एक को दूसरे दर्जे का नेता चुनेंगे। इसी तरह होता रहेगा। इस बीच पहले दर्जे के नेता दूसरे दर्जे के नेता के नीचे काम करेंगे। दो-दो सौ पंचायतों के समूह बनते रहेंगे, जब तक कि वे सारे भारत में फैल न जाएं। बाद की पंचायतों का हर समूह पहले के समूह के समान अपने में से दूसरे दर्जे का नेता चुनेगा। दूसरे दर्जे के सब नेता मिलकर सारे भारत के लिए सेवा करेंगे और अलग-अलग अपने अपने क्षेत्र की सेवा करेंगे। दूसरे दर्जे के नेता जब कभी जरूरत समझेंगे, अपने में से एक को 'सरदार' चुन सकेंगे। वह सरदार जब तक दूसरे दर्जे के नेता चाहेंगे सब समूहों का नियमन और नेतृत्व करेगा।

(चूंकि प्रान्त या जिले अभी आखिरी तौर पर नहीं बने हैं और अभी बदल रहे हैं, इसलिए सेवकों के इस समूह को अभी प्रान्तीय या जिला परिषदों में बांटने का प्रयत्न नहीं किया गया। जो समूह किसी खास समय तक बन जाए उनका अधिकार क्षेत्र सारा भारत रखा गया है। यह ध्यान रखना चाहिए कि सेवकों के इस समूह को जो कुछ अधिकार या सत्ता मिलेगी वह अपने मालिक की उस सेवा से मिलेगी, जो वे खुशी और समझदारी के साथ करेंगे। उनका मालिक सारा भारत होगा।)

सेवक के कर्तव्य

१ प्रत्येक कार्यकर्ता आदतन खादी पहननेवाला होगा। यह खादी या तो अपने हाथ से काते हुए सूत की होगी या अखिल भारतीय चर्खा संघ द्वारा प्रमाणित होगी। यह जरूरी है कि वह नशे की चीजों से पूरा परहेज करता हो। यदि वह हिंदू हो तो यह जरूरी होगा कि उसने अपनी निजी जिंदगी में या अपने परिवार में हर तरह की अस्पृश्यता को छोड़ दिया हो। यह भी जरूरी होगा कि उसे साम्प्रदायिक एकता, सर्वधर्म समभाव और सबको वर्ण, धर्म या स्त्री पुरुष का खयाल किए बिना समान अवसर और समान दर्जा देने के सिद्धांत पर विश्वास हो।

२ वह अपने क्षेत्र के प्रत्येक ग्रामवासी से व्यक्तिगत सम्पर्क रखेगा।

३ ग्रामवासियों में से वह कार्यकर्ताओं की भरती करेगा उन्हें काम करना सिखाएगा और उनका रजिस्टर रखेगा।

४ वह अपने प्रतिदिन के काम का ब्योरा लिखकर रखेगा।

५ वह इस तरह से गांवों का संगठन करेगा, जिससे हर गांव अपनी खेती और दस्तकारी के जरिये अपने पैरों पर खड़ा हो सके और अपना काम अपने आप चला सके।

६ वह गांववालों को सफाई और आरोग्य की शिक्षा देगा और गांववालों में अस्वास्थ्य और रोगों को रोकने के लिए सब उपाय करेगा।

७ वह हिन्दुस्तानी तालीमी संघ की तय की हुई नीति के अनुसार नई तालीम के ढंग पर जन्म से लेकर मृत्यु तक गांववालों की शिक्षा का प्रबन्ध करेगा।

८ वह इस बात का प्रबन्ध करेगा जिन लोगों के नाम मतदाताओं की सूची में दर्ज होने से रह गए हों वे अपने नाम दर्ज करा लें।

९ जिन लोगों ने मतदाता बनने की कानूनी योग्यता प्राप्त न की हो उन्हें वह प्रोत्साहित करेगा कि वह योग्यता प्राप्त कर लें जिससे मत देने का अधिकार मिल जाए।

१० ऊपर के कामों के लिए और दूसरे ऐसे कामों के लिए जो समय-समय पर इसमें बढ़ा दिए जाएं संघ के बनाए हुए नियमों के अनुसार वह अपना काम ठीक करने के लिए अपने को शुद्ध साधेगा और योग्य बनाएगा।

संघ नीचे लिखी स्वाधीन संस्थाओं को अपने साथ मिलाएगा

१ अखिल भारतीय चरखा संघ।
२ अखिल भारतीय ग्राम उद्योग संघ।
३ हिन्दुस्तानी तालीमी संघ।
४ हरिजन सेवक संघ।
५ गो सेवा संघ।

धन

"अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए संघ गांववालों में और दूसरे लोगों से धन जमा करेगा। इसमें खास जोर इस बात पर रहेगा कि गरीब लोगों से पैसा-पैसा जमा किया जाए।

"नई दिल्ली २९ १ ४८ मो० क० गांधी"

कांग्रेस खुदाई खिदमतगार, बन जाए

गांधीजी का उपर्युक्त दस्तावेज देश के विभाजन पर उनके हृदय की वेदना का प्रतीक है। वे इसका आरम्भ ही इन वेदनामय शब्दों से करते हैं 'भारत के दो खण्ड हो गए।' हिन्दू मुस्लिम एक्य पर अपने प्राणों की बाजी लगा देनेवाले, 'हिन्दू मुस्लिम ऐक्य ही स्वराज्य है'—ऐसा कहकर जिन्ना साहबको सताप करानेवाले और विषम परिस्थितियों के होते हुए भी भारत की अखण्डता पर अनन्य विश्वास रखनेवाले गांधीजी देश के विभाजन से पीड़ित न होते, यह हो कैसे सकता था?

दूसरा ख्याल था कि आखिर कांग्रेस ६३ ६४ वर्ष की कठिन तपस्या और निःस्वार्थ सेवा के बाद स्वराज्य लाई तो किस रूप में लाई? क्या यह सब तपस्या गोरे शासकों के बदले काले शासक बठा देने के लिए थी? यदि स्वराज्य में भारत की अपनी प्रतिमा न हुई, वह गरीब से गरीब और अमीर से अमीर सबके लिए समान वरदान सिद्ध न हुआ, तो वह किस काम का?

"यदि हम यह चाहते हों कि जनता में जागृति फैल जाए उसे अपने सच्चे हितों का ज्ञान हो जाए और उन हितों को सारी दुनिया के विरुद्ध रहते हुए भी पूरा करने की योग्यता तथा शक्ति आ जाए, और यदि पूर्ण स्वराज्य का अर्थ हमारे लिए यह है कि हममें शान्ति और एकता आ जाए हम भीतर या बाहर के आक्रमण से मुक्त रहें, और जनता की आर्थिक स्थिति में उत्तरोत्तर सुधार होता रहे

तब तो हम अपना उद्देश्य राजनीतिक अधिकारो के बिना, और जो शासक मौजूद हैं उनपर सीधा प्रभाव डालकर भी, पूरा कर सकते हैं।" (यग इडिया', १८-६ ३१)। इस सबके लिए तो हमे पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करने की जरूरत ही क्या है? "अभी कल तक ही तो काग्रेस बिना जाने राष्ट्र की सेवक बनी हुई थी— वह खुदाई खिदमतगार थी, भगवान की सेवक थी। अब क्या न वह अपने तई और दुनिया के तई घोषणा कर दे कि हम केवल ईश्वर के सेवक हैं—न इससे ज्यादा न कम? (हरिजन १-२ ४८)। उन्हे आशका थी कि वर्तमान रूप मे काग्रेस न तो ज्यादा दिन जी सकेगी न उसे जीना चाहिए। इसलिए उन्होने उसकी अब तक की तपस्या को इतिहास म चिरजीवी रखने के लिए उसे भग कर देने की सलाह दी।

गाधीजी का लोकतन्त्र

परन्तु गाधीजी का तरीका किसी चीज को मिटाकर केवल रिक्तता पैदा करने का नही था। विघटन और सघटन साथ साथ चलते थे। नई चीज का हमेशा ज्यादा अच्छा होना, सतोषजनक होना, जरूरी था। इसलिए उन्होने जहा एक ओर काग्रेस को भग कर देने की सलाह दी, वही उसे एक लोक सेवक सघ मे पुष्पित कर देने का विधान भी बना दिया। इस प्रकार उसे तो सच्चा खुदाई खिदमतगार बनने का मौका दिया और देश का एक ऐसी सस्था प्रदान करने की व्यवस्था कर दी, जो सच्चे लोकतन्त्र को कार्यान्वित कर सके, रूप द सके। लोकतन्त्र के बारे मे गाधीजी का विचार उनके इन शब्दो से जाना जा सकता है

'लोकतन्त्र के बारे म मेरी धारणा यह है कि उसम दुबल से दुबल व्यक्ति को सबल से सबल व्यक्ति के बराबर ही अवसर मिलना चाहिए। यह केवल अहिंसा से ही हो सकता है। आज दुनिया का कोई देश ऐसा नहा है जो कमजोर के प्रति एसा व्यवहार करता हो। सभी उसके प्रति कम्पन का या प्रतिपालक जैसा व्यवहार करते हैं। पश्चिम म आज जो लोकतन्त्र चल रहा है वह हलका बनाया हुआ नासीवाद (नात्सीज्म) या फासीवाद (फासिज्म) है। ज्यादा से ज्यादा वह साम्राज्यवाद की नासीवादी और फासीवादी वृत्तियो को छिपाने का नकाब मात्र है। भारत सच्चे लोकतन्त्र का अर्थात् हिंसारहित लोकतन्त्र का विकास करो म प्रयत्नशील है। हमारा अस्त्र है सत्याग्रह जो चरखा, ग्रामोद्योग अस्पृश्यता

निवारण, साम्प्रदायिक एकता, मद्य निषेध और जैसा अहमदाबाद में हुआ है, मजदूरों के अहिंसात्मक संगठन द्वारा अभिव्यक्त होता है। इसका अर्थ है सार्वजनिक प्रयत्न और सार्वजनिक शिक्षण। इन प्रवृत्तियों को चलाने के लिए हमारे पास बड़ी-बड़ी संस्थाएं हैं। वे शुद्ध स्वयंसेवी संस्थाएं हैं। उनका सम्बल केवल यह है कि वे दीनतम की सेवा करती हैं। ('हरिजन', १८-५-४०)

रामराज्य का आदर्श

गांधीजी ने अपने आदर्श स्वराज्य को रामराज्य की संज्ञा दी है। संभवतः यह प्रेरणा उन्हें तुलसीदास के 'रामचरितमानस' से मिली होगी, जिसके वे बचपन से ही भक्त थे। रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में रामराज्य का यह वर्णन किया गया है (और इसी आशय का वर्णन वाल्मीकि रामायण युद्धकाण्ड सर्ग १३१ श्लोक ९५-१०७ तथा उत्तरकाण्ड, सर्ग ६८, श्लोक १२-१३ में भी पाया जाता है)

चौ०—राम राज बैठे त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका॥
बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप बिषमता खोई॥
दोहा—बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥
चौ०—दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥
चारिउ चरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं॥
राम भगति रत नर अरु नारी। सकल परम गति के अधिकारी॥
अल्पमृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुंदर सब बिरुज सरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥
सब निर्दंभ धर्मरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी। सब कृतग्य नहिं कपट सयानी॥
दोहा—राम राज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं।
काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं॥
चौ०—राम राज कर सुख संपदा। बरनि न सकइ फनीस सारदा॥
सब उदार सब पर उपकारी। बिप्र चरन सेवक नर नारी॥

एक नारि व्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी॥
दोहा—दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचंद्र कें राज॥
चौ०—फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक सँग गज पंचानन॥
खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई॥
कूजहिं खग मृग नाना बृंदा। अभय चरहिं बन करहिं अनंदा॥
सीतल सुरभि पवन बह मंदा। गुंजत अलि लै चलि मकरंदा॥
लता बिटप मागें मधु चवहीं। मनभावतो धेनु पय स्रवहीं॥
ससि संपन्न सदा रह धरनी। त्रेताँ भइ कृतजुग कै करनी॥
प्रगटीं गिरिन्ह बिबिध मनि खानी। जगदातमा भूप जग जानी॥
सरिता सकल बहहिं बर बारी। सीतल अमल स्वाद सुखकारी॥
सागर निज मरजादाँ रहहीं। डारहिं रत्न तटन्हि नर लहहीं॥
सरसिज संकुल सकल तड़ागा। अति प्रसन्न दस दिसा बिभागा॥
दोहा—बिधु महि पूर मयूखन्हि रबि तप जेतनेहि काज।
मागें बारिद देहिं जल रामचंद्र कें राज॥
(संकलित रा० च० मा०, गीता प्रेस उत्तरकाण्ड, दोहा १६-२३)

यह तो गोस्वामी तुलसीदास की की हुई भक्तिमय कल्पना है परन्तु सम्पूर्ण रामचरितमानस (और वाल्मीकि रामायण) पढ़ने पर रामराज्य की जो छवि मन में उतरती है वह वर्णनातीत है केवल अनुभवगम्य है। परन्तु इस वर्णन में भी धार्मिक सामाजिक नैतिक राजनीतिक, आर्थिक सांस्कृतिक आदि सब पहलुओं की छवि मिल जाती है और मन उस राज्य में रहने के लिए उड़ानें भरने लगता है। गांधीजी इसी रामराज्य को धरती पर—भारत की धरती पर—उतारना चाहते थे, जो असौकिक तत्त्वों को छोड़कर उन्हें सपने भी दीखता था। साधारण मनुष्य के समझने योग्य भाषा में उन्होंने अहिंसा पर आधारित स्वराज्य का यह समानान्तर चित्र खींचा है

गांधीजी का स्वराज्य

अहिंसा पर आधारित स्वराज्य में कोई किसीका शत्रु नहीं होगा। सब प्रत्येक व्यक्ति सर्वसामान्य सत्य की सिद्धि में उचित योगदान करेगा। सब

लोग लिखना पढ़ना जानते होंगे, और उनका ज्ञान दिन प्रति दिन बढ़ता रहेगा। रुग्णता और रोगों को अधिक से अधिक घटा दिया जाएगा। कोई रंक न होगा। मिहनत करनेवालों को सदैव काम मिल सकेगा। जुआ, मद्य पान और व्यभिचार के लिए ऐसे राज्य में कोई स्थान न रहेगा। वर्ग विद्वेष भी न रहेगा। धनी लोग अपने धन का उपयोग समझदारी के साथ और लाभप्रद कामों में करेंगे, अपना ठाटबाट और भोग विलास के साधन बढ़ाने में उसे बहाएंगे नहीं। यह नहीं होना चाहिए कि मुट्ठी भर धनी लोग तो रत्न जटित महलों में रहें और करोड़ों जन साधारण दयनीय घरौंदों में, जिनमें न तो सूर्य का प्रकाश पहुंचता हो, न हवा ही मिलती हो। अहिंसामय स्वराज्य में किसीके न्यायपूर्ण अधिकारों को हड़पा नहीं जा सकता। दूसरी ओर कोई व्यक्ति अन्यायपूर्ण अधिकार नहीं रख सकता। एक सुसंगठित राज्य में दूसरों के अधिकारों को हड़पना असम्भव होना चाहिए। यह स्थिति ही नहीं होनी चाहिए कि किसी हड़पनेवाले से फिर अधिकार छीनने के लिए बल प्रयोग की जरूरत पड़े। ('हरिजन', २५ मार्च, १९४६)

इस सर्वांग सम्पूर्ण और कल्याणकारी राज्य में, जिसकी योजना एक एक व्यक्ति के सुख के लिए है संकीर्ण स्वार्थ संघर्ष का, पारस्परिक लड़ाई झगड़ों और गुटबन्दियों का, वर्ण जाति धर्म पर आधारित विद्वेष का, प्रादेशिक विस्तारवाद तथा भाषा और संस्कृति के नाम पर छीना झपटी का, उत्तर दक्षिण और पूर्व पश्चिम के एक-दूसरे पर आक्रमण का, क्या स्थान हो सकता है?

गांधीजी का यह स्वप्न अब तक पूरा नहीं हो सका परन्तु भविष्य में भी पूरा नहीं होगा, यह कहना दुःसाहस है।

ग्यारह
स्वराज्य और संविधान

स्वराज्य आया तो सोने के थाल में सजकर पूजा, आरती और मधु मिष्टान्न के प्रसाद के साथ नहीं, लाखों भारतीयों के भाई-बहनों के—जो एक क्षण में भारतीयों और पाकिस्तानियों के दो स्वतन्त्र राष्ट्रों में विभाजित हो गए थे—रक्त की नदी में तैरता हुआ आया। इतनी सरलता से महाकाली का खप्पर कभी न भरा होगा। इतने लोगों के निष्क्रमण, निष्कासन, उत्पीड़न और पुनर्वास की रक्ताश्रुमय गाथा इतिहास में तो कहीं पाई नहीं जाती, शायद भविष्य में भी मानवजाति ऐसी स्मृति कायम रखने में सिहर और लज्जा में अपना मुंह ढक ले।

कश्मीर पर आक्रमण

और महाप्रलय सदृश जब सर्वसहा वसुन्धरा के वक्षस्थल पर लक्ष-लक्ष निर्दोष स्त्रियों, बच्चों और पुरुषों का रक्त सूखा भी नहीं था, कश्मीर पर सैनिक आक्रमण हो गया और जो थोड़े-से अवांछित बम, गोले और तोपें ब्रिटिश शासक इन दोनों खंडों में छोड़ गए थे वे कश्मीर की घाटी और उसके ऊंचे हिमशिखरों पर गड़गड़ाने लगे। जो अंग्रेज भारत का शान्तिपूर्वक त्याग कर इतिहास में एक अभूतपूर्व अध्याय जोड़ने की ढोंडी पीटते थक नहीं रहे थे, उनके भाई-बन्द ठीक उसी समय कश्मीर की भूमि पर पाकिस्तानी सेनाओं का संगठन, संचालन और निर्देशन करने में व्यस्त थे। पाकिस्तान के अन्दर उनका साम्राज्य अब भी कायम था और वे भारत की जनता से, जिसने उन्हें देश छोड़ने के लिए बाध्य किया, बदला लेने पर तुले दिखलाई पड़ते थे।

भारत के जो नेता तीस वर्ष से अहिंसा की आराधना और शान्ति की पुकार करते-करते अब बूढ़े हो चले थे और जिनके हृदय स्वाधीनता की प्रथम प्रभाती से पहले ही छिन्न-भिन्न हो चुके थे, वे उद्विग्न हो उठे और संयुक्त राष्ट्रसंघ की सत्ता और

साधुओं का अखाड़ा समझकर बीच बिचाव के लिए उसके पास दौड़े, और जब भारतीय सेना और आक्रमणकारियों के पूर्ण पराजय के बीच केवल चार मील का अंतर दिखलाई पड़ने लगा था, उन्होंने संयुक्त राष्ट्रसंघ की ब्रिटिश प्रेरित इच्छा तथा बिचवानी से अपनी सेना व शस्त्र रोक लेना स्वीकार कर लिया जिससे कश्मीर की उलझन को शाश्वत रूप प्राप्त हो गया। अब वह कब और कितना महार्घ करके शांत होगी यह केवल भविष्य ही बता सकता है।

विभीषिकाओं का अंत

इन सब भीषण घटनाओं से एक महत्त्वपूर्ण बात स्पष्ट होती है। मुसलमानों ने मुस्लिम नेताओं तथा मुस्लिम लीग के राजनीतिक और कूटनीतिक विरोध इस्लाम की दुहाइयों और ब्रिटिशों के प्रोत्साहन के कारण हिन्दुओं का अहिंसा तथा शांति का मार्ग आम तौर पर कभी स्वीकार नहीं किया था। उनकी सामान्य नीति विरोध और संघर्ष की ही रही थी और उन्होंने ब्रिटिश शासकों के कृपा भाजन बनकर, उनका हित-साधन करते हुए हिन्दुओं के विरुद्ध छुरों का प्रयोग करने का कोई अवसर हाथ से जाने नहीं दिया था, यद्यपि इस घोर कृत्य के लिए शहरों के निवासी मुसलमानों को ही बड़ी संख्या में भड़काया जा सका था। गांवों में रहनेवाले मुसलमानों ने इस राजनीति से कोई वास्ता नहीं रखा और वे हिन्दुओं के साथ पूरे भाईचारे के साथ रहते रहे। दूसरी ओर, हिन्दू सामान्यतः शान्तिप्रिय हैं। उनके धर्म, दर्शन और संतों ने उन्हें शांति की ही शिक्षा दी है। इसलिए उनके झगड़े बहुधा तात्कालिक उत्तेजना के परिणाम होते थे और जल्द शान्त हो जाते थे। इसके अलावा, गांधीजी के नेतृत्व में वे पिछले तीस वर्षों से अहिंसा का पाठ पढ़ रहे थे। इतने पर भी उन्होंने इस संधि-काल में मुसलमानों से जो भीषण बदला लिया उससे मालूम होता है कि उन्होंने अहिंसा का पाठ हृदय से नहीं, तोता रटंत की भांति केवल जिह्वा से और, अधिक से अधिक व्यावहारिक बुद्धि से पढ़ा था।

संविधान आदर्श और भावना

इन सब विषम परिस्थितियों में भारत की राजधानी दिल्ली में भारत की संविधान सभा देश के राजकाज के संचालन और नव निर्माण के लिए शीघ्र से शीघ्र एक संविधान बनाने में निरत थी। इस कार्य में अनेक महत्त्वपूर्ण आवश्य-

बातों का ध्यान रखा गया था : १. संविधान को अधिक से अधिक लोक हित कारी बनाने के लिए संविधान सभा में सब पक्षों और सब विचारों के योग्यतम प्रतिनिधियों को एकत्र किया गया था। २. संविधान का ध्येय ऐसा तय किया गया था जिससे गरीब अमीर सब लोगों को बिना धर्म, जाति अथवा वंश के भेद भाव के स्वराज्य का पूरा लाभ मिले, प्रत्येक देशवासी को अपने राज्य का संचालन करने में योग हो, दलितों और पिछड़े हुए लोगों को सम्मान और अन्य देशवासियों के स्तर पर उठ आने की विशेष सुविधाएं मिलें, स्त्री समाज की उन्नति हो आदि। ३. निर्विवाद, व्यापक, सबके प्रति न्यायपूर्ण और फिर भी सरल संविधान बनाने के लिए कानून और संविधान के ऊंचे से ऊंचे पण्डितों को यह कार्य सौंपा गया और उन्हें ऐसे लोगों की मदद दी गई जो अपनी लोकसेवा के कारण न केवल देश की विभिन्न परिस्थितियों से परिचित थे वरन सब सम्प्रदायों, सब धर्मों, सब प्रान्तों के प्रति समदृष्टि, सद्भावना और सहानुभूति रखने के लिए प्रसिद्ध थे। मसविदा बनानेवाली समिति के अध्यक्ष डा० भीमराव अम्बेडकर बनाए गए जो दलित जातियों के पक्ष के उग्र समर्थक थे और यह मानते ही नहीं थे कि हिन्दू समाज के अंग बने रहने से दलित जातियों का सच्चा कल्याण हो सकता है। उन्हें अध्यक्ष बनाने का अवसर दिया गया कि वे दलित जातियों के हित में जैसा संविधान बनाना चाहें बना लें। इसके साथ ही उन्हें भारत का विधि मंत्री भी बनाया गया, जिससे जो त्रुटि संविधान में आने से रह जाएं या संविधान में अस्पष्ट रह जाएं उनका वे संशोधन कर लें। ४. संविधान शीघ्र से शीघ्र बन जाए और उसके अनुसार देश का राजकाज चलने लगे जिससे जनता का स्वराज्य का उत्साह ठंडा पड़ने के पहले ही नवनिर्माण का कार्य आरम्भ हो जाए और देश कम से कम समय में आत्मनिर्भर बनकर संसार के राष्ट्रों में अपना उचित स्थान प्राप्त कर सके और मानव-जाति के कल्याण में अपना पूरा योग देने लगे।

इन आदर्शों के अनुसार, और इन परिस्थितियों में जो संविधान बना और २६ जनवरी १९५० को देश में लागू किया गया उसने सबसे पहले भारत को 'सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य' घोषित किया। उसकी कुछ मुख्य विशेषताएं ये हैं : १. उसका उद्देश्य उसकी प्रस्तावना में यह बताया गया है, 'हम, भारत के लोग भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए, तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और

राजनैतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए तथा उन सबमें व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करनेवाली बन्धुता बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प होकर इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं। इन लक्ष्यों की सिद्धि के लिए जो व्यवस्थाएं संविधान में की गई हैं उनमें से कुछ ये हैं

संविधान की मुख्य व्यवस्थाएं

(क) भारत एक गणराज्य होगा जिसका अर्थ है कि उसका प्रधान शासक कोई राजा नहीं, जनता द्वारा नियमानुसार निर्वाचित राष्ट्रपति होगा।

(ख) भारत राज्यों का संघ होगा जिसमें हर राज्य अपने अपने क्षेत्र की उन्नति करने का और उसका दिन दिन शासन चलाने का जिम्मेदार होगा। राज्यों को केन्द्रीय सरकार के विषयों को छोड़कर शेष सब विषयों में अपने अपने ढंग से राजकाज चलाने का अधिकार होगा। केन्द्र उनकी प्रवृत्तियों में आन्तरराज्यीय समन्वय और सामंजस्य स्थापित करेगा। समग्र देश से सम्बन्ध रखनेवाले कामों में केन्द्रीय सरकार उनका मार्गदर्शन करेगी। कतिपय सार्वदेशीय कार्यों की जिम्मेदारी केन्द्र सरकार की ही होगी—उदाहरण के लिए, देश की सुरक्षा, वैदेशिक नीति, यातायात, डाक आदि।

(ग) संसदीय शासन पद्धति को केन्द्र और राज्यों, सबके लिए स्वीकार किया गया है। इसके लिए हरएक वयस्क को मताधिकार प्रदान किया गया है जो बहुत बड़े साहस का काम होते हुए भी अनुभव से सफल सिद्ध हुआ है।

(घ) शासन को धर्म निरपेक्ष घोषित किया गया है, जिसका अर्थ है—शासन किसी धर्म के काम में हस्तक्षेप नहीं करेगा। वह न तो स्वयं किसी धर्म विशेष का पालन करेगा न विरोध करेगा, न पक्षपात करेगा। सारांश, मानव धर्म ही उसका धर्म होगा जो उसके इस मुद्रावाक्य से प्रकट होता है—'सत्यमेव जयते'।

नागरिकों के मूल अधिकार

(ङ) उसमें सब नागरिकों के मूल अधिकार सुरक्षित कर दिए गए हैं, जो इस प्रकार हैं: समता का अधिकार, इसके अनुसार किसी भी नागरिक का किसी

से उत्पन्न हुए भयानक संकट, कश्मीर में हुए पाकिस्तानी आक्रमण और अन्तरिम काल में मुस्लिम लीग के विरोध तथा उसके द्वारा खुल्लमखुल्ला भड़काए और बढ़ाए गए उपद्रवों की भूमिका से अलग करके नहीं देखा जा सकता। इसका विस्तार, बृहत् कलेवर, मूल अधिकारों के साथ साथ ही निदेशक तत्वों का निर्देश और राज्य के अधिकारों पर लगाये गये प्रतिबन्ध—ये सब सावधानियां बताती हैं कि संविधान के निर्माण में राष्ट्रीय जीवन के अनुभवों से काम लिया गया है। या, यों कहें कि 'दूध का जला छाछ को फूंक फूंक कर पीता है' इस कहावत को चरितार्थ किया गया है। कुछ संविधान-पंडितों ने उसकी भूरि भूरि प्रशंसा की है, कुछ ने कड़ी आलोचना। परन्तु समग्रत देखा जाए तो वह सर्वांग-सम्पूर्ण है एक विशेष विचारधारा के अनुसार हमारे देश की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

सर्वांगीण व्यवस्था

उसमें धार्मिक, सामाजिक, नैतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन के सभी पहलुओं पर विचार करके उनकी व्यवस्था की गई है।

'राज्य के निदेशक तत्वों' में समाजवाद के तत्वों का स्पष्ट प्रतिपादन है। लोकतान्त्रिक शासन पद्धति का संयोग होने के कारण वह आप ही आप लोकतान्त्रिक समाजवाद का रूप ले लेता है।

धर्म निरपेक्ष राज्य होने के कारण अब तक के साम्प्रदायिक द्वेष भाव का अन्त हो जाना सम्भव है। पाकिस्तान के नेताओं को तो जिन्होंने भारत विरोध में ही अपना कल्याण समझ रखा है, भारत के मुसलमानों को भारत राष्ट्र में घुला मिला लेने की यह व्यवस्था आंखों की किरकिरी मालूम होगी क्योंकि इसमें उनके मुस्लिम राष्ट्र के दावे को धक्का पहुंचता है और उनकी तथाकथित इस्लामी राज्य-व्यवस्था में पाकिस्तानी-वासी हिन्दुओं के साथ भेदभाव का और संसार के सामने उनकी बड़ी बड़ी घोषणाओं का छिछलापन असली रूप में प्रकट हो जाता है। परन्तु भारत के मुसलमानों ने इसका स्वागत किया है और इसके संरक्षण में सुख और अपनापन अनुभव किया है। पाकिस्तान के साथ कश्मीर, पंजाब और राजस्थान-सीमा में जो युद्ध हुआ था, उसमें भारत के मुसलमान सैनिकों और अफसरों ने पराकाष्ठा की वीरता दिखाई थी, वह इसका ज्वलंत

प्रमाण है।

हरिजनों और पिछड़ी हुई जातियों ने गांधीजी के जीवन काल में राहत का जो आश्वासन पाया था, वह संविधान द्वारा पुष्ट कर दिया गया है। अस्पृश्यता का उन्मूलन कर दिया जाना इस बात का परिचायक है कि हिन्दू समाज अवसर आने पर ऊंचे उठने की क्षमता बिल्कुल ही नहीं खो बैठा। इससे अब शेष हिन्दू समाज के साथ उन सब जातियों तथा वर्गों की एकता में हार्दिक प्रेम की न सही, फिर भी हार्दिक सद्भावना की मुहर तो जरूर लग गई है। पहले ये सब वर्ग दबे हुए थे, इसलिए सवर्ण हिन्दुओं के अत्याचारों का मुकाबला करने के लिए खड़े नहीं होते थे। अब संतुष्ट हैं, इसलिए मुकाबले की जरूरत नहीं रही। सद्भावना धीरे धीरे प्रेम का रूप लिए बगैर नहीं रहेगी। परन्तु यह विचार करने पर कि ये शताब्दियों से अत्याचारों के मारे हुए हैं और दीर्घ काल से दलित जीवन बिताते बिताते अब उसे ही अपना स्वाभाविक जीवन मानने लगे हैं ऐसा लगता है कि इनकी पूरी उन्नति में अभी बहुत समय लगेगा।

आज इनके सामने समाज के दुर्व्यवहार की समस्या इतनी बड़ी नहीं रही, जितनी बड़ी आर्थिक समस्या है। समाजवाद के कार्यान्वित होने से इनकी हालत सुधर सकती है। आर्थिक स्थिति सुधरे तो स्वच्छता, शिक्षा और रहन-सहन के स्तर में आप ही सुधार हो जाएगा। जो व्यवसाय-व्यवस्था सदियों से इनके भाग्य में मढ़ी है वह भी आप ही आप बदल जाएगी। अर्थात् समाजवाद का सबसे अधिक लाभ इन्हें ही मिलना चाहिए।

स्त्रियों को समान दर्जा

स्त्रियों को भी संविधान में पुरुषों की बराबरी का दर्जा देकर देश की अधूरी लोकशक्ति को पूर्ण कर लिया गया है। सब वयस्क स्त्रियों को मताधिकार प्रदान किया गया है जिसके लिए इंग्लैंड में इसी शताब्दी में स्त्रियों को संगठित होकर उग्र आन्दोलन करना पड़ा था, अगणित उपद्रव हुए थे अगणित स्त्रियों को जेल जाना पड़ा था। समान काम के लिए स्त्रियों और पुरुषों का पारिश्रमिक भी बराबर कर दिया गया है। स्त्रियों की उन्नति से देश की चतुर्मुखी उन्नति में जो योग मिलेगा उसके महत्त्व का अनुमान आज लगाना कठिन है। परन्तु शान्ति तथा सद्भावना के प्रसार और वास्तविक स्थिति की दृष्टि से चिन्तन में बहुत

मदद मिलेगी इसमें शंका नहीं मालूम होती। आधी मानवजाति के प्रति न्याय का यह कार्य सदियों से रुका पड़ा था। गांधीजी ने स्त्रीजाति को जगाने में बहुत सफलता पाई थी और उनके उत्तराधिकारियों तथा शिष्यों ने पहला अवसर हाथ लगते ही उसपर संविधान की जो मुहर लगा दी वह उनकी ही मुहर समझी जाएगी। स्त्रियों के लोकजीवन में अधिकाधिक भाग लेने से, बहुत संभव है, एकता स्थापित करने और झगड़ों को मिटाने में भी बहुत मदद मिलेगी।

संविधान ने संसदीय शासन प्रणाली का वरण किया है। इसमें गुण भी हैं, भयानक दोष भी। दोष दलों और चुनावों से सम्बन्ध रखते हैं। यदि उन्हें दूर करने का कोई उपाय खोज न निकाला गया तो जिस संसदीय प्रणाली को आज आदर, आशा और विश्वास के साथ अपनाया गया है वह हमारे लिए एक अभिशाप बन जाएगी जिसके कुछ चिह्न अभी ही प्रकट होते रहते हैं।

वयस्क मताधिकार की व्यवस्था होने के कारण पहले चुनाव (१९५२) में लगभग १८ करोड़ मतदाताओं की सूची बनाई गई थी। बाद के चुनावों में यह सूची बढ़ती ही गई। परन्तु अधिकतर मतदाताओं के निरक्षर होने पर भी पहला ही चुनाव बहुत व्यवस्थित हुआ। संसार उसके समाचार पढ़कर आश्चर्य में डूब गया था।

सारे देश में निर्वाचित ग्राम पंचायतें भी स्थापित कर दी गई हैं। वे अपने अपने क्षेत्र में लोक-कल्याण का कार्य करती हैं।

गुटों से अलग रहने की नीति

संविधान का अप्रत्यक्ष हाथ भारत की गुटों से अलग रहने की विदेश नीति में भी दिखाई देता है। भारत लगभग डेढ़ सौ वर्ष के ब्रिटिश शासनकाल में अपनी अत्यन्त समृद्ध स्थिति से भयानक दरिद्रता के गर्त में गिर चुका था। स्वाधीनता के बाद राष्ट्रीय सरकार के सामने सबसे बड़ी समस्या यह उपस्थित हुई कि देश की ४०-४५ करोड़ जनता के भोजन वस्त्र की समस्या कैसे हल की जाए। इसके लिए उसने पंचवर्षीय योजनाएं बनाई। इतने बड़े देश को कम से कम समय में जीवन की आवश्यक वस्तुएं उपलब्ध कराने और उसे आत्मनिर्भर बना देने के लिए बहुत बड़ी योजनाओं की जरूरत थी। उनके लिए न केवल धन, बल्कि मशीनों और तकनीकी ज्ञान की भी जरूरत थी। इसलिए भारत को दूसरे समृद्ध देशों से सहायता मांगना

पड़ी जो अधिकतर लम्बी अवधि के ऋण, तकनीकी ज्ञान और मशीनों के रूप में होती है।

भारत को यह मदद सभी से लेनी थी। वह मानता था कि जो राष्ट्र दूसरों का शोषण करके सम्पन्न हुए हैं उनका धर्म है कि वे शोषित राष्ट्रों के उन्नति के प्रयत्नों में बिना अहसान के मदद करें। लोकतन्त्री देशों का इसमें हित था कि यदि वे भूखे और नंगे लोगों को मदद करेंगे तो वे साम्यवादियों की गोद में न जाएंगे। साम्यवादियों का हित था कि उर्वरा भूमि में अपनी विचारधारा के बीज डालने का अवसर मिलता था और वे यह आशा कर सकते थे कि समय आने पर ये भूखे-नंगे लोग हमारी भाषा बोलने लगेंगे। इधर भारत का आदर्श यह था कि दोनों गुटों से अलग रहकर, दोनों में सह अस्तित्व की भावना जाग्रत् करके और दोनों को एक दूसरे के निकट खींचकर विश्व में शान्ति की भावना दृढ़ की जाए। इसलिए उसने दोनों से बिना किसी राजनीतिक बन्धन के सहायता मांगी, और ली। इससे भारत की सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्नता अक्षुण्ण रही, उसे अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में काम करने का अवसर मिला, उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी और अन्य राष्ट्रों के साथ मधुर सम्बन्ध स्थापित हुए। अप्रत्यक्ष लाभ यह हुआ कि किसी एक गुट में शामिल न होने के कारण उसे दूसरे गुट का कोप भाजन नहीं बनना पड़ा जिससे उसके विकास में बाधा पड़ती। शीघ्र ही उसकी गुटों में शामिल न होने की नीति अन्य सद्य मुक्त राष्ट्रों ने भी अपना ली। जो बड़े देश पहले इस नीति को शंका की दृष्टि से देखते थे वे भी आज इसका आदर करने लगे हैं।

लोकतान्त्रिक समाजवाद

लोकतान्त्रिक समाजवाद का आदर्श जो संविधान से ही उद्भूत होता है वास्तव में बहुत कठिन है। उसे शीघ्र प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं दीखता। परन्तु राष्ट्रीय सरकार उसकी ओर बढ़ने का यथासम्भव प्रयत्न कर रही है।

इन सब शुभ प्रयत्नों के होते हुए देश में पारस्परिक संघर्ष, खींचातानी, भ्रष्टाचार, अदक्षता, संकुचित स्वार्थों तथा महत्त्वाकांक्षाओं, सत्ता राजनीति, गरीबी और भूख का नंगा नाच हो रहा है। सर्वत्र असन्तोष फैला हुआ है। यह क्यों? कैसे दूर हो? सब लोगों का ध्यान देश की उन्नति पर कैसे लगे?

बारह
स्वराज्य की समस्याएं

स्वराज्य का उदय जिन विषम और घोर परिस्थितियों में हुआ उन्हें दुहराना आवश्यक नहीं है। गांधीजी के नेतृत्व में देश ने सत्य, अहिंसा, न्याय, प्रेम और सेवा का जो पाठ पढ़ा था उसे वह संकट आने पर भूल गया और बाद में उसकी ओर फिर नहीं मुड़ सका। कदाचित अब उस याद करने में लम्बा समय लगेगा या फिर किसी जोरदार ठोकर की आवश्यकता होगी।

भारत की राष्ट्रीय सरकार तथा नेताओं ने अपनी और देश की शक्ति की मर्यादाएं महसूस करके स्वराज्य का रथ उस दिशा में चलाना उचित समझा जो मूलभूत, तुरंत आवश्यक और सारी दुनिया में बहनेवाली हवा में सरल तथा स्वाभाविक मालूम होता था। अर्थात् उन्होंने आर्थिक स्थिति सुधारने की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया। धर्म को तो स्वराज्य-संचालन के क्षेत्र से अलग कर ही दिया गया था कदाचित आर्थिक प्रयत्नों और दर्शनिक समस्याओं में असाधारण व्यस्तता के कारण चारित्र्य निर्माण तथा चारित्र्य पोषण की उपेक्षा भी हो गई।

जब तक हम स्वराज्य की लड़ाई लड़ रहे थे हमारे सामने त्याग, तप, सेवा, बलिदान आदि का ही लक्ष्य था और उसीमें हम डूबे रहना पसंद था। समाज के आदर और विदेशी सरकार के कोप के सिवा पाने को कुछ था ही नहीं। खोने को सभी कुछ था—शिक्षा, रोजगार धंधा, धन सम्पत्ति, परिवार का सुख, स्वास्थ्य, देश के अन्दर विचरण की स्वतन्त्रता, और क्या नहीं?

स्वार्थों का उदय और संघर्ष

स्वराज्य के आगमन से लोगों को कुछ पाने की आशा हुई। बहुत-से लोगों ने अपनी सेवाओं को भुनाना चाहा। जिन्होंने सेवाएं नहीं की थीं, उलटे स्वराज्य

संघर्ष का सदा विरोध किया था, उनमें से भी बहुत-से लोग खादी के कपड़े पहन-कर और झूठे दावे पेश करके देशभक्तों, सेवकों, त्यागियों, बलिदानियों की श्रेणी में जा बैठे। और कुछ पा लेने का संघर्ष शुरू हो गया।

अवसर था ही। जब देशभक्त जेलों में सड़ रहे थे उस समय उन्होंने काफी धन भी कमा लिया। अब और कुछ नहीं तो संसद, विधान सभा या विधान परिषद की सदस्यता ही सही। मंत्री हो जाएंगे तब तो पांचों अंगुलियां घी में रहेंगी, न होंगे तो भी कुछ अधिकार, मान-सम्मान, कुछ साध सकने का अवसर तो मिलेगा ही!

जिन पवित्र संस्थाओं—संसद, विधान-सभाओं, विधान परिषदों, मंत्रिमंडलों आदि में स्वार्थत्याग की आवश्यकता थी, उनमें अन्यतम स्वार्थ की यह भावना आ गई। आगे चलकर इस वृत्ति ने छोटे स्वार्थ से बड़े का, फिर उससे बड़े को साधने का लगातार बढ़नेवाला रूप धारण कर लिया। जो सीधे सच्चे देशभक्त थे वे दब गए और चलते पुर्जों या धूर्तों का पलड़ा भारी हो गया। उन्होंने काम आनेवाली जगहों और पदों पर अपने भक्तों और भाई भतीजों को जमाना शुरू किया। इसमें उनकी योग्यता का भी पूरा खयाल नहीं होता था। इससे उनकी स्थिति मजबूत हुई, परन्तु काम में अदक्षता और लापरवाही का सूत्रपात हुआ। फिर उन्होंने आपस में गुटबन्दियां करके शासन में संघर्ष पैदा करके, दूसरों को गिराकर ऊंचे अधिकार के पद पर पहुंचने का सिलसिला शुरू किया।

जब स्वार्थ और महत्त्वाकांक्षाओं की यह वृत्ति प्रबल और प्रचंड हुई उसी समय आर्थिक विकास योजनाएं भी शुरू हुई। रुपया पानी की तरह बहने लगा। भारी रकमों के खर्च के बड़े बड़े काम हाथ में लिए गए। अब स्वार्थी लोगों का ध्यान रुपया बटोरने की ओर गया। ठेका देने में, लाइसेन्स देने में, रुपये की मदद में—सब जगह से प्रत्यक्ष या परोक्ष रिश्वतों का दौरदौरा शुरू हो गया। और ये 'देशभक्त' इस तरह के आत्मसेवा कार्य में गले तक डूब गए।

व्यापार में अनैतिकता

दूसरा था व्यापारी समाज। ब्रिटिश-काल में उसके व्यापार का केवल एक धर्म रह गया था—रुपया कमाना, ईमानदारी से या बेईमानी से, जैसे हो रुपया कमाना। जवान व्यापारी धर्मभीरु वृद्ध पिता से कहता था—'यह तो व्यापार है पिताजी, इसमें सत्य, धर्म आदि की बात न कीजिए। वह सब अलग होता रहेगा।

रुपया कमा लें, फिर हम आपके नाम से गोशाला, मन्दिर, धर्मशाला आदि, जो आप कहेंगे, बनवा देंगे।" यह समाज उसी समय से रिश्वतें देकर सौगुना लाभ उठाने का अभ्यस्त था। इसने राजनीतिज्ञों और अन्य अधिकारियों के घर भरने शुरू कर दिए, राजनीतिज्ञों तथा अधिकारियों ने इसका पोषण करना शुरू किया। इस प्रकार भ्रष्टाचार का दुश्चक्र चल पड़ा। परिणामतः चोरबाजारी मुनाफाखोरी, मिलावट आदि का बोलबाला हो गया। सौदा दोनों में से किसी पक्ष को महंगा नहीं पड़ा। धन धूर्तों के हाथ में सिमटने लगा। सीधी सच्ची, असहाय जनता इस चक्की में पिसने लगी। कोई इसकी मार से बच न सका।

भ्रष्टाचार का दौर-दौरा

यह सब देखकर छोटे अधिकारी और कर्मचारी भी ललचाए। उन्होंने काम में हीलाहवाला करके रिश्वतें लेना शुरू किया। जिन्हें रिश्वतें लेने का अवसर नहीं था उन्होंने एक ओर तो काम में ढिलाई और लापरवाही करनी शुरू की, दूसरी ओर वेतन वृद्धि के लिए संघर्ष शुरू कर दिए।

इस प्रकार राज्य-तन्त्र भ्रष्टाचार, काम में लापरवाही, अदक्षता आदि में डूब गया। जिस काम के लिए रिश्वत न दी जाए या दर्जनों बार दफ्तरों के दरवाजे न खटखटाए जाएं वह हो ही नहीं सकता। बार बार आपकी अर्जियां गलत हो जाएंगी, बार-बार आपको भिन्न भिन्न अफसरों से मिलना पड़ेगा, बार-बार वही वही बातें आपसे पूछी जाएंगी। बार बार आपको जिम्मेदार कर्मचारी छुट्टी पर या 'चाय पीने' गया हुआ मिलेगा। और अन्त में महीनों की दौड़ धूप के बाद, आपसे कहा जाएगा—"यह तो नहीं हो सकता" या यह तो छः महीने पहले ही हो जाना चाहिए था।'

बहुत से विभागों में तो भ्रष्टाचार 'हक' के रूप में खुल्लमखुल्ला और संगठित तौर से चलता है। सभी जानते हैं पर करता कोई कुछ नहीं।

सभी भ्रष्टाचारी हों सो बात नहीं। बहुत से लोग अब भी धर्म की और अन्तरात्मा की आवाज का अनुसरण करते हैं। परन्तु ऐसे लोग यदि भ्रष्टाचारियों के बीच में हुए तो उनका जीवन दूभर हो जाता है।

इस प्रकार भ्रष्टाचार की यह शृंखला धूर्त देशभक्तों और व्यापारी समाज से शुरू होकर सारे राज्यतन्त्र और समाज में फैली है। समाज की नैतिक शक्ति

और उसके सदाचार का पतन करने में इसका मुख्य हाथ है। इसे मिटाना देश के सामने पहला काम है। यह पहली समस्या है। अब तक न इसे गृहमंत्री पूरी तरह पकड़ पाए हैं, न उनका केन्द्रीय खुफिया विभाग ही इसका उन्मूलन करने में सफल हुआ है।

• विविध प्रकार की गरीबी

दूसरी बड़ी समस्या है गरीबी की। यह बहुत कुछ तो वास्तविक है, कुछ सापेक्ष है। उद्योगों की इतनी वृद्धि और धन का इतनी बड़ी मात्रा में विनिमय तथा विनियोग होने पर भी करोड़ों लोग ऐसे हैं जिन्हें इसका लाभ नहीं मिला। उन्हें अब भी पेट भर भोजन और नग्नता ढकने के लिए पर्याप्त वस्त्र उपलब्ध नहीं हैं। उनकी गरीबी सच्ची है, दिल दहला देने वाली है। वास्तव में देश में गरीबी की समस्या इतनी बड़ी है कि उसे इतने थोड़े समय में वर्तमान तरीकों और साधनों से हल कर लेना असम्भव सा है।

दूसरे लोगों की गरीबी का अर्थ यह है कि उन्हें आसपास के या अन्य लोगों के बराबर सुविधाएं नहीं मिलतीं। इस गरीबी के विभिन्न स्तर हैं, जिन्हें क्रमिक विभागों में बांटा नहीं जा सकता। कुछ को रूखा सूखा भोजन और तन ढकने को जरूरी वस्त्र मिल जाते हैं, कुछ को बच्चों की शिक्षा की सुविधा भी थोड़ी-बहुत मिल जाती है। कुछ को भोजन, वस्त्र, निवास, शिक्षा और स्वास्थ्य की कम ज्यादा सुविधाएं मिलती हैं। इसी तरह इन 'गरीबों' का समाज बढ़ता-बढ़ता वहां तक पहुंचता है, जहां कुटुम्ब के मुख्य पुरुष को हजारों रुपयों की मासिक आय होती है, परन्तु उसके पास संकट में काम आने के लिए अपने पास पचास रुपये भी नहीं होते, या वह अपने बच्चे का इलाज कराने के लिए उसे अमेरिका, यूरोप या रूस नहीं ले जा सकता। ये सब एक-दूसरे से गरीब हैं और अपने से ऊपर वाले की सुविधाएं प्राप्त करने के लिए लालायित रहते हैं। यह हालत सारे समाज की है। इस सापेक्ष गरीबी का कारण वह आर्थिक विचारधारा है, जो अंग्रेजों के आने के बाद में क्रमशः हमारे बीच यूरोप से आई और जिसका मूल यह नितान्त भौतिक तत्व है कि अपनी आवश्यकताएं बढ़ाओ, अधिक उत्पादन करो, अधिक भोगो। इसका एक ही परिणाम हुआ है, जीवन में लोभ और संघर्ष बढ़ा है और अशान्ति आई है। पश्चिम के जीवन में अशांति दिखाई देती है, अवसर मिलने प

भारतीय तत्त्वज्ञान को समझने के लिए वहां के लोग जो टूट पड़ते हैं उसका मुख्य कारण यह विचारधारा ही है। वहां लोग अपनी जीवन पद्धति से थक गए हैं उससे निकलना चाहते हैं, परन्तु ऐसे वातचक्र में फंस गए हैं कि निकलना सम्भव ही नहीं होता अधिकाधिक फंसते ही जाते हैं। हम इस दृष्टि को बदल सकें अपने जीवन में मर्यादाओं को पुनः प्रतिष्ठित कर सकें, तो बहुत से गरीबों को 'गरीबी' आप ही आप मिट सकती है। गांधीजी ने इसका मार्ग विशद रूप में दिखाया है।

धन का उचित वितरण नहीं

गरीबी के इस कष्ट और असंतोष के कारण और भी हैं। भ्रष्टाचार तो है ही, दूसरा और बड़ा कारण यह है कि स्वाधीन भारत की सरकार ने यद्यपि लोकतांत्रिक समाजवाद को अपना लक्ष्य बनाया है वह धन के उचित वितरण का उपाय अभी तक नहीं कर सकी। अब तक उसके उद्योगों और विविध योजनाओं का लाभ कुछ खास प्रकार के लोगों को ही मिल रहा है। दूसरी ओर मिश्र अर्थव्यवस्था का असंगत नारा लगाकर विचारों में और कार्य में भी एक गम्भीर उलझन पैदा कर दी गई है। फलतः एक ओर कुछ विशेष प्रकार के लोगों के पास धन सिमट रहा है, बड़े-बड़े महल बन रहे हैं भोग विलास और वैभव मर्यादा तोड़कर आगे भाग रहा है दूसरी ओर ने लोगों के पास भोजन है न वस्त्र हैं न रहने के लिए मकान हैं—दूसरी सुविधाओं की तो बात ही क्या!

सार रूप में कहा जाए तो सरकार का समाजवाद का लक्ष्य अब तक तो धनिकों को अधिक धनिक और गरीबों को अधिक गरीब बनाने में ही सफल हुआ है। गरीबों को जहां-कहीं थोड़ी सी उपार्जन की सुविधा मिली है वहां महंगाई उनकी कमाई को खा जाती है। जो लोग ज्वार बाजरा जैसा मोटा अनाज खाकर जीवन बसर करते थे वे गेहूं चावल खाने लगे हैं तो कहा जाता है कि उनका भोजन का स्तर ऊंचा उठ गया है! जो चलते पुर्जे हैं वे कमजोरों से, जरूरतमंदों से, छीन झपट कर या ठगकर अपना काम चला लेते हैं। जो ऐसे नहीं हैं वे हर तरह के कष्ट भोगते हैं। कानून की किताबों में उनको संरक्षण प्रदान करने के लिए कोई निश्छिद्र कानून नहीं हैं, हालांकि कानून की किताबें बहुत मोटी हैं और दिन प्रतिदिन अधिक मोटी होती जाती हैं। वास्तव में कानून तो बहुत बनते हैं, परन्तु उनका अमल कराने और उनके प्रति जनता के मन में आदर—या आतंक ही

सही—पदा करने के प्रयत्ना मे उत्साह दिखलाई नही पडता। कोई ऐसा कानून अब तक देखा नही गया जिसमे शब्दो को तोड मरोडकर छिद्र न निकाल लिए गए हो।

चुनाव और दलीय पद्धति

तीसरी बडी समस्या है चुनावो, निर्वाचित प्रतिनिधियो द्वारा शासन और दलीय पद्धति से पदा हुई बुराइयो की। इनका मुख्य कारण यह है कि हमने जान बूझ कर ससदीय और सघीय व्यवस्था का वरण किया। लोकतन्त्र के नाम पर आज यही व्यवस्था ससार म चल रही है। भारत जसे देश म जहा मतदाताओ को प्रलोभन दिए जा सकते है, भडकाया जा सकता है जाति पाति और धम की भावनाओ का लाभ उठाया जा सकता है ये सस्थाए लोक प्रतिनिधिक कसे होती हैं यह समझना कठिन है। इसके बाद दलीय पद्धति के कारण सदस्य अपने स्वतन्त्र विचार भी पैदा नही कर सकते। दल के कुछ लोग जो निश्चय कर लेते हैं, वही सबको मानना पडता है। उनका प्रभाव भी काम करता ही है। इन परिस्थितियो मे ससदीय प्रणाली कुछ ही लोगो की बुद्धि स चलने के कारण एक प्रकार की मर्यादित तानाशाही का रूप ले लेती है। अच्छाइयो का प्रचार तो दुनिया मे कम होता ही है, ससदीय प्रणाली की बुराइया जब मतदाताओ तक पहुचती हैं—और यह भूलना नही चाहिए कि भारत म मतदाताओ की सख्या २० २५ करोड है—तब उनका मनोबल क्षीण होता है उनका चारित्र्य बल कमजोर पड जाता है। इस रूप म ये चुनाव जिनम विरोधी उम्मीदवार एक-दूसरे की सात पुश्तो तक की खबर ल लेते हैं दश के चारित्र्य को गिरा देने के सबसे बडे और अचूक साधन हैं। ससार के अन्य देशो म जो ससदीय प्रणाली चल रही है वह शासन की सुविधा की वस्तु है लोकतन्त्र से उसका क्या वास्ता ? कवल तीन या पाच वष म एक बार मतदान करके बठ जान से देश के शासन म उनका सच्चा योग कसे हो सकता है ?

ससदीय शासन प्रणाली

गाधीजी ने ससदीय प्रणाली की कडी आलोचना की है। उन्होन लोकतन्त्र की जिस प्रणाली का सुझाव दिया था वह उनके अतिम वसीयतनामे म, अथात उनके

बनाए हुए लोक सेवा संघ के विधान में दिया गया है (देखिए अध्याय १०)। उसके अनुसार, वे चाहते थे कि लोकतन्त्र का विकास और प्रसार संसद से सारे देश में करने के बदले ग्राम-पंचायतों को उसकी इकाई बनाकर किया जाए। यदि उनकी यह योजना उस समय देश के नेताओं ने स्वीकार कर ली होती तो आज देश में जो दुःस्थिति देखने को मिलती है वह शायद न मिलती। सच्चे लोकतांत्रिक समाजवाद का मार्ग भी उससे प्रशस्त हो जाता। लोकतन्त्र और तानाशाही दोनों की बुराइयों को उसमें निकाल दिया गया था और दोनों की अच्छाइयों का समन्वय कर दिया गया था।

संसदीय शासन प्रणाली में जो लोग चुनावों में सफल हो जाते हैं वे अगले चुनावों को नजर में रखकर ही काम करते हैं। अर्थात् या तो वे योग्य नेता नहीं होते—इसलिए प्रतिनिधि बनाए जाने योग्य नहीं होते—जिससे अपने क्षेत्र की जनता को अपने पीछे और सही रास्ते पर चला सकें, या सही-गलत का ख्याल किए बिना ऐसे काम करते हैं जिससे जनता उनसे खुश हो और उनके मत सुरक्षित रहें। ऐसे कमजोर प्रतिनिधियों में लोकतन्त्र का माद्दा हो ही नहीं सकता, उसकी भावना तो होती ही नहीं। विभिन्न प्रदेशों के सीमा सम्बन्धी झगड़े, भाषाई विवाद अमुक कारखाना कहां स्थापित हो इस विषय के झगड़े आदि इसी मनोवृत्ति के द्योतक हैं। यदि वे अपने क्षेत्र की जनता के हित की दुहाई देकर किसी विषय पर झगड़ते हैं या कोई नया विवाद खड़ा कर देते हैं तो उसके समाचार जनता में शीघ्रता से फैल जाते हैं और उनकी लोकप्रियता बढ़ती है।

भाषावार प्रांत-रचना

संघ-व्यवस्था में भाषाई आधार पर घटक राज्यों की सीमा निर्धारित करने में भी बहुत-से उपद्रव खड़े हुए हैं। इससे राज्यों की मनोवृत्ति संकुचित हो गई है और राष्ट्रीय भावना को ठेस पहुंची है। अलग अलग राज्य अपने संकुचित अथवा माने हुए स्वार्थों को लेकर केन्द्र सरकार के सामने तरह तरह की समस्याएं खड़ी करते रहते हैं और उसकी सार्वदेशिक नीतियों में बाधक होते हैं। अन्य राज्यों के साथ वे कठिन परिस्थितियों में भी सहयोग करना नहीं चाहते। केरल के खाद्य संकट के समय जिन राज्यों के पास अधिक चावल था वे उसे आसानी से देने को तैयार नहीं हुए। नदियों के पानी के बंटवारे के सम्बन्ध में भी झगड़े होते रहते हैं।

ब्रिटिश ने विभिन्न वर्गों और समाजो में फूट डालने के लिए उनमे जो पारस्परिक दुर्भावनाए पैदा कर दी थी, जिनमे वर्तमान भाषाई समूहो की पारस्परिक दुर्भावनाओ ने उत्तर से दक्षिण को और एक भाषा बोलनेवालो से दूसरी भाषा बोलनेवालो को अलग कर दिया था और उनमे एक दूसरे के प्रति तिरस्कार पैदा कर दिया था ये दुर्भावनाए आज सगठित रूप से काम करने लगी है। वास्तव मे भाषाई प्रदेशो के निर्माण की जो मागें की गई उनमे दावा तो किया गया अपनी अपनी संस्कृति सम्बन्धी आकाक्षाओ का परन्तु असली कारण यह था कि वे दूसरी भाषाए बोलनेवालो के साथ रहना नही चाहते थे, उनसे अलग होना चाहते थे। अर्थात एक प्रकार के प्रेम के बदले दूसरे प्रकार का द्वेष उन मागों की तह मे था। जो चीज द्वेष के आधार पर खडी हो वह शुभ कैसे हो सकती है? परस्पर द्वेष और राष्ट्रीय प्रेम—ये दोनो बातें देश की आवश्यकताओ की दृष्टि से असगत मालूम होती है। इनसे राष्ट्रीयता की कडिया कच्ची होती है। विभिन्न राज्यो के निर्माण और भाषाओ के आधार पर उनकी सीमा के निर्धारण से क्षत्रीय और भाषाई समूहो के स्वार्थों की दृष्टि का विकास तो हुआ, समस्त देश के लाभ की दृष्टि कमजोर पडी।

फिर, भाषावार राज्यो के निर्माण से किसी भी राज्य ने अपनी भाषा का विकास इतना तो नही किया कि वह दावे के साथ अग्रजी को हटाकर अपनी भाषा को उसके स्थान पर प्रतिष्ठित कर देता परतु अपने राज्य मे रहनेवाले अन्य भाषा भाषियो के प्रति भेदभाव म कमी नही की गई। भाषावार राज्यो के निर्माण के सघर्ष मे, राष्ट्रभाषा को उसका स्थान देने के सम्बन्ध मे भी, समस्त भारत के सच्चे हितो का ध्यान नही रखा गया। राष्ट्रभाषा का प्रश्न तो केवल एक दो राज्यो के आग्रह के कारण खटाई मे पडा है। भाषा के नाम पर जो भयानक झगडे हुए वे हमारी आखें खोलनेवाले होने चाहिए।

अग्रेजी और अग्रेजियत

इससे निकट सम्बन्ध रखनेवाली अग्रेजी और अग्रेजियत की समस्या है। राज्य का कामकाज तो बहुत कुछ अग्रजी मे चल ही रहा है हमारे जीवन मे भी अग्रजियत अधिकाधिक घुसती जाती है। दिल्ली जैसे शहरो मे अग्रजियत का जो प्रभाव आज देखने को मिलता है, वह अग्रजो के जमाने मे नही था। इसको हमने रोका नही तो हमारी जीवन पद्धति और सस्कृति के सद्‌गुण, जो हम अब तक

जीवित रख सके हैं पीछे पड जाएंगे और हम एक ऊपरी सभ्यता के जाल में जकड-कर सनातन शांति और सुख के मार्ग से पथच्युत हो जाएंगे।

दलीय राजनीति

विभिन्न दलों और विचारधाराओं के झगडे भी भारत की राष्ट्रीय नींव को खोखला करते रहते हैं। कोई दल सारे भारत को एक हिंदू राज्य बना देना चाहता है, कोई साम्यवाद का स्वप्न देखकर चीन या रूस से प्रेरणा लेना चाहता है, कोई समाजवाद या अमेरिकी मार्ग की सिफारिश करता है, परन्तु इन सबके बीच ऐसा कोई भी दल नहीं है जो शुद्ध भारतीय मार्ग को अपना लक्ष्य मानता हो। गांधीजी की दुहाई अपने स्वार्थों के लिए सभी देते हैं परन्तु उनकी शिक्षा का अनुसरण कहीं दिखलाई नहीं पडता। सब दलों का काम केवल एक है—अपनी अपनी तुरही अलग अलग बजाकर शासक दल का विरोध करना। और उसे पदच्युत करने के उचित अनुचित प्रयत्नों में लीन रहना। इन बाधाओं से शासक दल के कार्यों में बाधा पडती है और सारे देश का शासन ढीला होता है।

विरोधी दलों का होना तो अच्छा है, परन्तु यदि विरोधी दल के पास कोई स्पष्ट कार्यक्रम न हो वह कार्यक्रम बनाने में झिझकता हो, तो उसका विरोध केवल अडंगा-नीति का द्योतक बन जाता है। उसमें लाभ तो कोई नहीं होता जनता बुद्धि भेद और भ्रांति में पड जाती है।

अनाज की कमी

बहुत बडी समस्या है देश को भोजन देने की। सरकार की पंचवर्षीय योजनाओं में वर्तमान की अपेक्षा भविष्य का विचार अधिक रहा। इसलिए उनमें कृषि को उतना महत्त्व नहीं दिया गया जितना उद्योगों को दिया गया। परिणाम यह हुआ कि हमें स्वाधीनता के इतने वर्षों के बाद भी विदेशों से अन्न मंगाकर देशवासियों का उदर पोषण करना पडता है।

कहा जाता है कि हमारी कृषि की उपज में वृद्धि तो बहुत हुई है परन्तु जनसंख्या में अमर्यादित वृद्धि होने के कारण जो अधिक पैदा होता है वह उसीमें खप जाता है, और हमारी हालत फिर भी पहले जैसी ही बनी रहती है। इससे न केवल [illegible] की उपज बढाने की, वरन जनसंख्या की वृद्धि को रोकने की समस्या भी

मुंह बाए खड़ी है।

परन्तु केन्द्र सरकार द्वारा सारे भारत में अनाज के समुचित वितरण की एक सफल योजना की आवश्यकता से इनकार नहीं किया जा सकता। अलग-अलग राज्यों की अपनी अपनी खाद्य-नीति के कारण समुचित वितरण में बाधा पड़ती है। उसका निवारण होना ही चाहिए।

अनाज की समस्या के कुछ महत्त्वपूर्ण पहलू और भी हैं। एक तो यह है कि देश में उसे सारे वर्ष सुरक्षित रखने के लिए अच्छे गोदामों की कमी है। इस कारण बहुत-सा अनाज सड़ जाता या चूहों के पेट में चला जाता है। उसकी रक्षा होना जरूरी है।

कहा जाता है कि देश में इतने चूहे हैं कि वे प्रति वर्ष सारे अनाज का एक तिहाई हिस्सा खा जाते हैं। यह भी अनुमान लगाया गया है कि छः चूहे मिलकर एक मनुष्य का अन्न खाते हैं। यदि यह अनुमान सही है तो भयानक है। इसका कुछ प्रबन्ध किया जाना चाहिए। वैज्ञानिकों और जीव विद्या के सन्तुलन शास्त्र—ईकालोजी—के विशेषज्ञों का इस ओर ध्यान देना होगा।

भोजन की आदतों और पद्धतियों से भी इसका कम सम्बन्ध नहीं है। भारत में केवल चावल खानेवाले या केवल गेहूं खानेवाले क्षेत्र न रहें तो समुचित वितरण में सरलता हो जाएगी। दूसरे, हम पका हुआ भोजन बरबाद करने की आदतें छोड़नी होंगी। दावतों में भोजन की बरबादी होती है, लोग अपनी थालियों में जो भोजन छोड़कर बरबाद कर देते हैं, वह न हो तो बहुत अनाज की बचत होगी।

अच्छा आहार प्रदान करनेवाले फलों (जैसे ब्रेड फ्रूट, कटहल आदि) और कन्द मूल (जैसे टापिओका आलू आदि) की उपज बढ़ाई जाए, उनमें तरह तरह के व्यंजन बनाने की विधियों का विकास किया जाए और उनका संगठित तथा व्यापक रूप से प्रचार किया जाए, तो भी इस समस्या को हल करने में मदद मिल सकती है। बहुत-से व्यंजन डिब्बा-बन्द करके सस्ते दामों में बेचने की भी आवश्यकता है। इस दिशा में हमारे देश में अब तक व्यवस्थित विचार और संगठित प्रयत्न किया ही नहीं गया, जो होना जरूरी है।

सुरक्षा की समस्या

भोजन से भी बड़ी समस्या बन गई है देश की सुरक्षा की। पाकिस्तान और

चीन के आक्रमण का खतरा भारत की सीमाओं पर लगभग स्थायी हो गया है पाकिस्तान के १९६५ के आक्रमणों का अनुभव बताता है कि भारत अपनी रक्षा के लिए किसी दूसरे देश पर निर्भर नहीं कर सकता फिर भी पाकिस्तान को अनेक प्रकट या प्रच्छन्न कारणों से छोटे बड़े देशों की सक्रिय सहानुभूति और सक्रिय अस्त्र शस्त्रों की सहायता मिलती रहेगी। चीन को किसी दूसरे देश से सहायता लेने की जरूरत है ही नहीं।

हमारी यह कठिनाई हमारी वदेशिक नीति की पराजय की द्योतक है। हमारी नीति उत्तम है, इसमें कोई सन्देह नहीं। वह स्वतन्त्र भी है जो होनी चाहिए परन्तु वह अन्य राष्ट्रों की नीति के अनुकूल नहीं पडती। यदि हम हंगरी में रूस की नीति की, वियतनाम में अमेरिका की नीति की और स्वेज में ब्रिटेन की नीति की आलोचना करके उन देशों के मसूबों के आड़े आते हैं तो अपने संकट के समय उनसे सहायता की आशा कम कर सकते हैं?

आत्मनिर्भरता का अभाव

हमारा आदर्शवाद मानता है कि जिन देशों ने दूसरे देशों का शोषण करके अपने आपको सम्पन्न किया है उनका कर्तव्य है कि वे उन देशों को उनके नव निर्माण के प्रयासों में अधिक से अधिक सहायता दें। इस आदर्शवाद के कारण हम उन राष्ट्रों के प्रति पर्याप्त कृतज्ञता भी प्रकट नहीं कर सकते जो हमारे औद्योगिक विकास में हमारी आर्थिक सहायता करते हैं। हम उनके कोई राजनीतिक अथवा अन्य बंधन भी स्वीकार नहीं करते। परन्तु हमारा आदर्शवाद सबको तो स्वीकार नहीं हो सकता। जो मदद करता है वह कहे या न कहे मन में कुछ प्रतिफल की आशा तो रखता ही है। फिर आज आर्थिक साम्राज्यवाद के प्रसार की नीति भी स्पष्ट दिखाई दे रही है। इसलिए हमारी वदेशिक नीति की पराजय आश्चर्यजनक नहीं है। यदि हम इतनी स्वतन्त्र नीति पर चलना चाहते थे तो हमें दूसरों से सहायता की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए थी और अपने आर्थिक तथा औद्योगिक मामलों को अपने ही बूते पर चलाना था। यदि हम दूसरों से कोई अपेक्षा न करते तो विश्व में हमारे आदर्शों का आदर होता और प्रभाव पडता।

सुरक्षा के लिए हमें केवल अस्त्र शस्त्रों की दृष्टि से नहीं, राष्ट्रीय जीवन के

सब क्षेत्रों की दृष्टि से आत्मनिर्भर और सबल बनने की आवश्यकता है।

एकता का अभाव

एकता के अभाव ने लोक जीवन की विकासशील वृत्तियों को पंगुप्राय बना दिया है। इस अभाव को दूर किए बिना कोई भी प्रगति सम्भव न होगी। इसे समस्या माला में पिरोया हुआ तार मानना चाहिए।

सन् १८५७ से लेकर १९४७ तक अर्थात् ९० वर्ष, भारत ने विदेशी सत्ता को हटाने का जो निरंतर संघर्ष किया और अन्ततः गांधीजी के नेतृत्व में असहयोग तथा कानून भंग का जो उत्साह जन जन में फैला, उसके कारण सारी जनता के मन में सत्ता का विरोध करने और उसे अपने-आप से अलग समझने की वृत्ति घर कर गई। यदि देश में एकाएक क्रान्ति हुई होती तो शायद यह मनोवृत्ति भी उसके साथ कोई दूसरा रूप ले लेती। परन्तु हमारा स्वराज्य उत्क्रान्ति की प्रक्रिया से आया। उसके आगमन का असर भी लोगों के मन पर बहुत धीरे धीरे ही हुआ। फलतः विरोध की मनोवृत्ति का न तो परित्याग हो सका न परिमार्जन। शासन के प्रति तो वह चेतन या अचेतन मानस में बनी ही रही, सामान्य जीवन में भी उसने अपना ही टेक रखकर दूसरों से संघर्ष करते रहने की प्रेरणा दी, क्योंकि यह तो नागरिक स्वभाव का अंग बन चुकी थी। परिणाम हुआ खींचातानी। स्वार्थवृत्ति के साथ मिलकर उस खींचातानी ने और भी अधिक राष्ट्र कल्याण निघातक रूप धारण कर लिया। वह आज सर्वत्र दृष्टिगत हो रहा है। स्वराज्य की यह समस्या जितनी स्वाभाविक है उतनी ही विषम भी है। नेताओं ने इसे हल करने के कुछ प्रयत्न किए हैं फिर भी यह अब तक चिन्तनीय बनी है।

तेरह
समस्याओं की कुंजी राष्ट्रव्यापी एकता

स्वराज्य की समस्याओं को विचार के लिए इन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है

१ बुराइयों और कमियों के निवारण की समस्याएं
२ नवनिर्माण की समस्याएं और
३ आत्म निर्भर होने की समस्याएं।

इन सब समस्याओं से निपटने के उपायों में एक बात सामान्य मालूम होती है राष्ट्रव्यापी रूप में मिल जुलकर दृढ़संकल्प होकर उत्साह सम्भावना और सदबुद्धि के साथ निरंतर प्रयत्न करना। अर्थात निवारक निर्माणकारी सेवामय राष्ट्रीय एकता अथवा डायनामिक राष्ट्रीय एकता। इसे मूलभूत प्रश्न मान लेना अनुचित न होगा।

हिन्दू मुस्लिम एकता

स्वाधीनता के पूर्व गांधीजी ने और उनके पहले अन्य नेताओं ने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच एकता स्थापित करने के निरंतर प्रयत्न किए थे। परन्तु अन्ततः वे सफल नहीं हुए और जिस दुःस्थिति को रोकने के लक्ष्य से ये प्रयत्न किए गए थे वह आकर रही। अर्थात देश की अखण्डता नष्ट हो गई। देश के विभाजन के समय और उसके पहले बाद दोनों सम्प्रदायों में जो भीषण रक्तपात हुआ और आगे चलकर पाकिस्तानी नेताओं ने भारत के विरुद्ध निरंतर विद्वेष उगलते रहने की जिस नीति का अवलम्बन किया, उस सबसे कुछ समय तक ऐसा प्रतीत होता रहा कि किसी न किसी दिन दोनों देशों में आबादी की अदला बदली करने का मौका आए बिना न रहेगा। परन्तु भारत के अन्दर धीरे धीरे स्थिति सुधरती गई। संविधान के लागू होने पर भारत की हिन्दू और मुसलमान जनता

में साधारण प्रेम सम्बन्ध स्थापित होने लगा। अब ऐसी परिस्थिति आ गई है जबकि भारत के मुसलमान अपने देश की रक्षा में दूसरे किन्हीं भी भारतीयों से पीछे नहीं दिखलाई पड़ते। अतः इस साम्प्रदायिक समस्या का हल हो गया, ऐसा मान लेने में कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती। अब एक ही खतरा रह गया है। पाकिस्तान में हिन्दुओं के प्रति जो अत्याचार होते रहते हैं, जिनके कारण वहां की हिन्दू और अन्य गैर मुस्लिम जनता भाग भाग कर भारी संख्या में भारत आती रहती है, उनसे भारत के लोगों में भी कभी-कभी उत्तेजना फैलती है और छुटपुट वारदातें हो जाती हैं। सभी लोग इन घटनाओं का मूल कारण जानते हैं, इसलिए इनको अन्यत्र न देने में और इनसे दोनों सम्प्रदायों के सम्बन्धों को बिगड़ने न देने में अपनी पूरी शक्ति लगा देते हैं। यदि किसी तरह पाकिस्तान से आनेवाली इस उत्तेजना को रोका जा सके तो यह खतरा भी मिट जाएगा। परन्तु निकट भविष्य में इसकी संभावना दिखलाई नहीं पड़ती। इसलिए हम अपने देशवासियों में परस्पर अच्छी भावनाएं बनाए रखने के प्रयत्न ही करते होंगे। ये प्रयत्न स्थायी वरदान भी सिद्ध हो सकते हैं, क्योंकि उत्तेजना होने पर भी सद्भावना बनाए रखने के प्रयत्नों से हमारे चारित्र्य पर अच्छा असर पड़ेगा। हिन्दू मुस्लिम समस्या के अलावा दूसरी साम्प्रदायिक समस्याएं कभी देश में उग्र हुई ही नहीं।

सूक्ष्म भूमिका की एकता

फिर भी, दूसरे रूपों में एकता की समस्या उग्र है ही। भारत में प्राचीन काल से सूक्ष्म भूमिका की जो एकता चली आ रही है उसमें सदा की आतुरता और ओज, पराक्रमशीलता या डायनामिज्म नहीं है। उसे निवृत्तिपरक कहना चाहिए, प्रवृत्तिपरक नहीं। उससे अखिल भारतीय सांस्कृतिक स्तर पर आदान प्रदान तो हो सकता है, शांति भी रह सकती है, परन्तु वह हमारे सामान्य लोक-जीवन, संस्थागत जीवन और सामाजिक जीवन में फलवती नहीं होती। आर्थिक जीवन में भी उसका प्रभाव देखने को नहीं मिलता। क्षेत्रीय स्वार्थों और भाषा सम्बन्धी आग्रहों का प्रश्न खड़ा होने पर तो वह बिलकुल ही असफल हो जाती है। प्रासंगिक द्वेष तथा उत्तेजना की भी संभावनाएं संभव हैं।

प्रासंगिक एकता

कभी कभी लोग कहते हैं कि इसमें एकता तो है ही देखो न चीन और पाकिस्तान के आक्रमणों के समय हम कैसे एक मनुष्य जैसे खड़े हो गए थे। बार बार एकता की बात कहकर हमारा मनोबल क्षीण क्यों करते हैं ? बात तो सही है, परन्तु दृष्टि में भेद है। यह तो वैसी ही एकता है जैसी कौरवों और पांडवों में थी

परस्पर विवादेषु वय पच शत च त ।
अय सह विवादेषु वय पचाधिक शतम ॥

अर्थात यदि हमारे बीच आपसी झगड़े हों तो हम (पांडव) पांच हैं और वे (कौरव) सौ हैं परन्तु दूसरों के साथ झगड़ा हो तो उनसे निपटने के लिए हम एक सौ पांच हैं।

इस एकता से तो पांडवों और कौरवों की रक्षा नहीं हो सकी। इसका लाभ उठाने के लिए सदैव किसी बाहरी शक्ति के साथ युद्ध में लगे रहना होगा।

दोनों में अंतर

पहली एकता सरोवर के जल जैसी है जो आघात होने से हिलती तो है पर टूटती नहीं। जिस प्रकार सरोवर का जल अपने स्थान पर स्थिर होता है और बहकर खेतों को हराभरा नहीं कर सकता, परंतु कोई उसके पास जाए तो प्यास बुझा देता है उसी प्रकार यह एकता सब भारतीयों को एक राष्ट्रीयता में तो आबद्ध रखती है, परंतु आगे बढ़कर श्रम या सेवा करने की पराक्रम दिखाने की स्फूर्ति प्रदान नहीं करती। कोई इसे तोड़ने का प्रयत्न करे इसको आघात पहुंचाए तो इसमें क्षणिक वक्रता तो आती है परन्तु यह टूटती नहीं। यह अपनी शक्ति को भूली रहती है। इसका कृतित्व देखने के लिए हनुमान की तरह इसे इसकी शक्ति का स्मरण कराना होता है।

दूसरे प्रकार की एकता अपने में सातत्य न होने के कारण पर्याप्त लाभदायी नहीं होती। वह समुद्र के ज्वार के समान है। पूर्णिमा का दिन आने पर जिस तरह समुद्र पूरे वेग से तट पर आक्रमण करता है, परन्तु पूर्णिमा के बीत जाने पर भाटा आ जाता है और समुद्र की लहरें फिर से पीछे हटकर साधारण तरंगों का

रूप धारण कर लेती हैं, उसी प्रकार यह एकता भी युद्ध का अवसर आने पर ज़ोर पकड़ती है और उसके समाप्त हो जाने पर ठंडी पड़कर समस्त दायित्वों के प्रति अचेत हो जाती है।

दोनों का मिश्रण आवश्यक

भारत को अपनी समस्याएं हल करने के लिए इन दोनों प्रकारों की एकता के सम्मिश्रण की आवश्यकता है, जिसमें पराक्रमशीलता भी हो और सातत्य भी। इसके अतिरिक्त उसमें उत्कट संवेदनशीलता भी चाहिए, जिससे वह पराक्रम के प्रत्येक अवसर को अपने आप खोजकर पकड़ ले और हाथ से न जाने दे।

ऐसी एकता स्थापित हो जाए तो हमारी सब समस्याएं सरलता से हल हो सकती हैं। भ्रष्टाचार, स्वार्थ-संघर्ष, देश का अहित करनेवाली व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा, अदक्षता और अन्य प्रकारों की चारित्र्यहीनता के ठिकानों को पकड़कर यह सातत्यमय, पराक्रमशील और संवेदनशील एकता ऐसे संगठित आन्दोलन को जन्म दे सकती है, जो इन समाज विरोधी और देश द्रोही दुर्गुणों को क्षण भर में मिटा दे। संसदीय शासन की बुराइयों को भी यह अपनी हुंकार से ही शान्त कर सकती है। विभिन्न दलों को इसकी शक्ति देखते ही इसके सामने सिर झुकाकर अपनी राह सुधार लेनी होगी।

गरीबी और अनाज की समस्याएं इसकी पराक्रमशीलता का वेग न सह सकेंगी। कृषि, उद्योग और विभिन्न निर्माण-कार्य इसके सामने सरल हो जाएंगे। जिस दिन सारे देश में इस एकता की प्राण प्रतिष्ठा हो जाएगी उस दिन में चार सप्ताह भी सारी समस्याओं को हल करने में न लगेंगे। उसके बाद उन्नति का क्रम शुरू होगा, और जारी रहेगा। धन धान्य के प्रचुर साधनों से परिपूर्ण हमारा यह देश न केवल आत्मनिर्भर हो जाएगा, वरन् दूसरों की सेवा भी कर सकेगा।

देश की सुरक्षा तो अवसर की एकता में भी संभव हो चुकी है। जिस दिन यह प्राण प्रतिष्ठित एकता हमारे राष्ट्रीय जीवन का ध्येय करेगी उस दिन से दूसरे राष्ट्र हमारी ओर आंख उठाने का या ललचाई हुई आंखों से देखने का साहस भी नहीं करेंगे।

एकता की प्रक्रिया

आखिर राष्ट्रीय एकता से यह सब चमत्कार कैसे हो जाएगा यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है। कभी-कभी इसमें सताप भी दिखाई देता है वह भी स्वाभाविक है। हम इस इसकी प्रक्रिया की दृष्टि से समझने का प्रयत्न करेंगे।

एकता के अभाव के जो थोड़े से विषय उदाहरण के रूप में पिछले अध्यायों में बताए जा चुके हैं—भाषा क्षेत्र दल विचारधारा संस्था संगठन संकुचित स्वार्थ आदि—उनसे देश की शासन-व्यवस्था और उन्नति में बाधा पड़ती है। जनता के सहयोग के बिना सरकार अपनी नीतियों का निर्वाह कर ही नहीं सकती। सरकार जनता की चुनी हुई होती है। वह जनता की होती है। वह सब जनता के हित के लिए नीति निर्धारित करके और विधि नियम बनाकर शासन करती है। उसके विधि नियमों या आदेशों में विचारधारा की गलती तो हो सकती है परन्तु उद्देश्य या इरादे अच्छे ही होते हैं। यदि वह कहीं गलती करती है तो उसे संगठित लोकशक्ति और लोकमत के बल पर ही सुधरवाया जा सकता है। इस प्रकार राष्ट्र की एकता उसपर अंकुश रख सकती है। एकता के बिना यह अंकुश संभव नहीं है।

यदि सरकार की अच्छी नीतियों का पालन भी सुचारु रूप से न हो तो, या तो उसके कार्यपालक कर्मचारियों का दोष होगा, या जनता का या दोनों का। जनता इस स्थिति को एकतामय प्रयत्नों द्वारा ठीक कर सकती है। यहां एकता के साथ जरूरत होती है सहनशीलता और जागरूकता की जिससे वह परिस्थिति का ग्रहण कर ले, सेवा और पराक्रम की जिससे वह कार्रवाई कर सके सातत्य की जिससे वह तब तक कार्रवाई करती रहे जब तक कि कार्य सिद्ध न हो जाए। परन्तु ऐसी कार्रवाई में कुछ तत्त्व मूलभूत हैं जिनके बिना लाभ के स्थान पर हानि हो जाने की आशंका रहती। वे हैं—समझदारी या भले बुरे का ठीक ज्ञान, न्याय और शान्तिपूर्ण प्रयत्न। गाधीजी तो कहते थे कि लोकतन्त्र में हिंसा का कोई स्थान हो ही नहीं सकता। साम्यवादी विचारों के लोग इस बात को नहीं मानते परन्तु उनकी विचारधारा अलग ही होती है।

उदाहरण

इसको समझने के लिए एक उदाहरण ले लें। यदि सरकार ने भ्रष्टाचार और चोरबाजारी जैसे समाज विरोधी कार्यों को रोकने के लिए कानून बनाया, परन्तु कुछ लोग कानून में छिद्र खोजकर या उसे धता बताकर इन समाज विरोधी कार्यों को नाना रूपों में चलाते ही रहे तो हानि सब जनता की होगी। यदि जनता एक होकर ऐसे समाज विरोधी कार्यों को सहन करने से इनकार कर दे और न्याय-अन्याय का पूरा विचार करके ऐसे काम करनेवालों के साथ अछूतों जैसा व्यवहार करना शुरू कर दे तो यह बुराई तुरन्त मिट जाएगी। उलटे यदि कुछ लोग विरोध करें, कुछ समर्थन करें और कुछ हाथ पर हाथ रखे बैठे रहें तो संघर्ष तो होगा, परन्तु लाभ पूरा न हो सकेगा। राष्ट्रीय पैमाने की बुराइयों को मिटाने के लिए राष्ट्रीय पैमाने की एकता भी आवश्यक है।

दूसरा उदाहरण व्यवस्था, स्वच्छता और सुन्दरता की दृष्टि से नियम बनाए गए कि शहर में २० मील प्रति घंटा से तेज कोई मोटर न चलाई जाए, कूड़ा करकट घूरे में ही फेंका जाए और सार्वजनिक पार्क से फूल पौधे आदि न तोड़े जाएं। कुछ लोग लालच या बुरी आदतों के कारण इन सब नियमों को तोड़ते रहे। फल हुआ दुर्घटनाएं, सर्वत्र गंदगी और बीमारियों का प्रसार और सार्वजनिक पार्क का नाश। दूसरे लोग यह सब देखते हुए भी चुपचाप बैठे रहे—वे या तो डरते थे या लापरवाह थे, यद्यपि हानि उनकी भी हुई। ऐसी हालत में सरकार क्या कर सकेगी? जो काम जनता के सुख के लिए और उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए किए जाते हैं उनका समर्थन और संरक्षण यदि जनता न करे तो वे हो ही नहीं सकते। सरकार हर चीज की रक्षा और हर छोटे बड़े नियम के संरक्षण के लिए हर जगह पुलिस तो रख नहीं सकती—यह न संभव होगा, न व्यावहारिक, न उचित होगा और न जनता के मान सम्मान के अनुकूल। यह काम तो जनता का है। और यदि जनता एक होकर न करे तो नहीं हो सकता। जनता का संगठित बल न मिलने पर एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों की हिम्मत समाज विरोधी लोगों के विरुद्ध खड़े होने की नहीं हो सकती। मान लीजिए नियम के विरुद्ध तेज मोटर चलानेवाले से कोई दुर्घटना हो गई। कुछ लोग जान-बूझकर उसकी हिमायत करने लगे, कुछ पुलिस को सौंपने पर तुल पड़े। बस संघर्ष बढ़ जाएगा, उस व्यक्ति को या दूसरों

को कोई शिक्षा न मिलेगी। उलटे, जिसने भी तेज मोटर चलाते देखा उसने ही मना किया, टोका, तो यह वृत्ति बढ़ न पाएगी। यह वृत्ति विकसित करने के लिए एकता ही आवश्यक है। एकता जीवन का एक मानदण्ड निश्चित कर सकती है जिसका उल्लंघन संभव न होगा।

इसी प्रकार और भी बुराइयां रोकी जा सकती हैं उनका निवारण किया जा सकता है।

नव निर्माण के लिए एकता

अब लीजिए नव निर्माण का विषय। हम कारखाने बनाने हैं, खेती की उन्नति करनी है, सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना करनी है अपनी संस्कृति और भाषा की पुनः प्रतिष्ठा करनी है। ये सब काम यदि एक एक व्यक्ति या एक एक समूह की अलग अलग इच्छा के अनुसार हों तो कायदे हो ही नहीं सकेंगे। यदि हुए तो उनमें न तो व्यवस्था आएगी न समन्वय ही स्थापित होगा। सरकार काम चलाने के लिए एक नीति निर्धारित कर देती है कुछ काम भी करती है। ये सब काम राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखकर किए जाते हैं। क्षेत्रीय हितों का ध्यान तो रखा जाता है परन्तु उन्हें राष्ट्रीय हितों के विपरीत जाने देने की वृत्ति नहीं रखी जाती। अब यदि लोग आपस में मिलकर दिल से उन्हें पूरा न करें, कुछ लोग हीलाहवाला करें कुछ लोग नाराज़ रहें कुछ लोग एक ओर खींचें कुछ लोग दूसरी ओर खींचें कुछ लोग झगड़े लगाने और विरोध करने में ही लगे रहें, तो कोई काम ठीक तरह से पूरा न होगा। परन्तु यदि सब लोग केवल राष्ट्रीय हितों को ही ध्यान में रखकर एक ही दिशा में चलें तो सब काम बहुत सरलता से, अच्छा और शीघ्र हो जाएगा।

खेती का उदाहरण लें। यदि अनाज पैदा करना मूंगफली या पटसन पैदा करने से देश के लिए ज्यादा जरूरी है, तो हम सबकी भावना यही होनी चाहिए कि आय की हानि सहकर भी हम अनाज ही पैदा करेंगे। यदि हानि सहना सम्भव नहीं है तो हम मिलकर समाज और सरकार से ऐसी सहायता ले लेंगे जिससे हमारी हानि पूरी हो जाए। परन्तु यदि हम छोटे छोटे समूहों में या व्यक्तिगत रूप से यही काम करना चाहेंगे और राष्ट्र का हित उसमें न होगा तो हम अपने आयोजन में सफल न हो सकेंगे सरकार और समाज से हमें सहायता न मिलेगी। व्यापक एकता से जो वातावरण बन जाता है उसमें भी बहुत शक्ति होती है। यदि

सारा राष्ट्र यह स्वीकार कर ले कि हम मल की खाद का मुक्त मन से यथेष्ट उपयोग करेंगे तो देश के किसी भाग में उसके विरुद्ध भावना या दुराग्रह नहीं रहेगा। एक होकर सम्मिलित शक्ति लगाने से ही राष्ट्र निर्माण के काम ठीक हो सकते हैं।

आत्म निर्भरता के लिए एकता

अब तीसरा विषय आत्म निर्भर होने का है। इसका अर्थ है, जितनी वस्तुएं हम अपना पूरी शक्ति लगाकर पैदा कर सकें या बना सकें उतनी पैदा कर और बनाएं। आत्म निर्भरता की यह प्रक्रिया छोटे-छोटे गांवों से शुरू होनी चाहिए।

परन्तु हमारी सरकार ने एक राष्ट्रीय नीति निश्चित कर दी है। वह है लोकतन्त्रात्मक समाजवाद की। उसके साथ मिश्र अर्थ व्यवस्था की बात भी कही जाती है। इस नीति के रहते हुए हम इसकी मर्यादाओं के अन्दर रहकर ही काम करना होगा। यही राष्ट्र के लिए हितकारी होगा। यदि हम इसे नहीं मानते तो हम वैधानिक तरीके से इसे बदलकर दूसरी नीति का अवलम्बन करना चाहिए। इन दोनों बातों के लिए राष्ट्रीय एकता आवश्यक है। बिना एकता के, एक भावना के, यह काम न हो सकेगा।

वर्तमान राष्ट्रीय नीति है बड़े बड़े कारखानों के साथ-साथ छोटे उद्योगों, सरकारी उद्योगों और खानगी उद्योगों—सबको प्रोत्साहन देकर देश में आवश्यक माल उत्पन्न करने की, और इस तरह शीघ्र से शीघ्र आत्म निर्भर बन जाने की। कृषि के सम्बन्ध में भी सरकार ने नये प्रकार की खेती नये तरीकों से कराकर उपज बढ़ाने की नीति निर्धारित की है। हमारी राष्ट्रीय भावना का पूरा बल इसे मिले और सबके दृढ़ संकल्प से यह कार्य सिद्ध हो। इसमें सबका कल्याण है। इसमें जो मदद करता है वह देश का मित्र और जो बाधा डालता है वह शत्रु, ऐसी राष्ट्रीय भावना से इसकी सिद्धि में मदद मिलेगी। यह भावना राष्ट्रव्यापी हो, राष्ट्र इसके विपरीत कुछ भी सुनने को तैयार न हो, यह राष्ट्रीय एकता से ही सम्भव होगा।

नेता कौन हो ?

इस सबके बाद एक बड़ा प्रश्न रह जाता है : इस एकता का नेता कौन हो ? वास्तव में तो नेताओं का उदय गांधीजी की सुझाई हुई ग्राम-पंचायतों के माध्यम

तो कोई निशा न मिलेगी। उलटे, जिसने भी तेज मोटर चलाते देखा उसने ही मना किया, टोका, तो यह वृत्ति बढ़ न पाएगी। यह वृत्ति विकसित करने के लिए एकता ही आवश्यक है। एकता जीवन का एक मानदण्ड निश्चित कर सकती है जिसका उल्लंघन सम्भव न होगा।

इसी प्रकार और भी बुराइयां रोकी जा सकती हैं उनका निवारण किया जा सकता है।

नव निर्माण के लिए एकता

अब लीजिए नव निर्माण का विषय। हम कारखाने बनाने हैं, खेती की उन्नति करनी है, सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना करनी है अपनी संस्कृति और भाषा की पुन प्रतिष्ठा करनी है। ये सब काम यदि एक एक व्यक्ति या एक एक समूह की अलग अलग इच्छा के अनुसार हो तो शायद हो ही नहीं सकेंगे। यदि हुए तो उनमें न तो व्यवस्था आएगी न समन्वय ही स्थापित होगा। सरकार मार्ग दर्शन के लिए एक नीति निर्धारित कर देती है कुछ काम भी करती है। ये सब काम राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखकर किए जाते हैं। क्षेत्रीय हितों का ध्यान तो रखा जाता है परन्तु उन्हें राष्ट्रीय हितों के विपरीत जाने देने की छूट नहीं दी जाती। अब यदि लोग आपस में मिलकर दिल से उन्हें पूरा न करें कुछ लोग हीलाहवाला करें कुछ लोग शरारत करें, कुछ लोग एक ओर खींचें कुछ लोग दूसरी ओर खींचें, कुछ लोग झगड़े लगाने और विरोध करने में ही लगे रहें तो कोई काम ठीक तरह से पूरा न होगा। परन्तु यदि सब लोग केवल राष्ट्रीय हितों को ही ध्यान में रखकर एक ही दिशा में चलें तो सब काम बहुत सरलता से, अच्छा और शीघ्र हो जाएगा।

खेती का उदाहरण लें। यदि अनाज पैदा करना मूंगफली या पटसन पैदा करने से देश के लिए ज्यादा जरूरी है तो हम सबकी भावना यही होनी चाहिए कि आय की हानि सहकर भी हम अनाज ही पैदा करेंगे। यदि हानि सहना सम्भव नहीं है तो हम मिलकर समाज और सरकार से ऐसी सहायता ले लेंगे जिससे हमारी हानि पूरी हो जाए। परन्तु यदि हम छोटे छोटे समूहों में या व्यक्तिगत रूप से यही काम करना चाहेंगे और राष्ट्र का हित उसमें न होगा, तो हम अपने आयोजन में सफल न हो सकेंगे सरकार और समाज से हमें सहायता न मिलेगी। व्यापक एकता से जो वातावरण बन जाता है उसमें भी बहुत शक्ति होती है। यदि

सारा राष्ट्र यह स्वीकार कर ले कि हम मल की खाद का मुक्त मन से यथेष्ट उपयोग करेंगे तो देश के किसी भाग में उसके विरुद्ध भावना या दुराग्रह नहीं रहेगा। एक होकर सम्मिलित शक्ति लगाने से ही राष्ट्र निर्माण के काय ठीक हो सकते हैं।

आत्म निर्भरता के लिए एकता

अब तीसरा विषय आत्म निर्भर होने का है। इसका अर्थ है, जितनी वस्तुए हम अपनी पूरी शक्ति लगाकर पैदा कर सकें या बना सकें उतनी पैदा करें और बनाए। आत्म निर्भरता की यह प्रक्रिया छोटे छोटे गावों से शुरू होनी चाहिए।

परन्तु हमारी सरकार ने एक राष्ट्रीय नीति निश्चित कर दी है। वह है लोकतन्त्रात्मक समाजवाद की। उसके साथ मिश्र अर्थ व्यवस्था की बात भी कही जाती है। इस नीति के रहते हुए हम इसकी मर्यादाओं के अन्दर रहकर ही काम करना होगा। यही राष्ट्र के लिए हितकारी होगा। यदि हम इसे नहीं मानते तो हमें वैधानिक तरीके से इसे बदलकर दूसरी नीति का अवलम्बन करना चाहिए। इन दोनों बातों के लिए राष्ट्रीय एकता आवश्यक है। बिना एकता के, एक भावना के यह काम न हो सकेगा।

वर्तमान राष्ट्रीय नीति है बड़े-बड़े कारखानों के साथ साथ छोटे उद्योगों, सरकारी उद्योगों और खानगी उद्योगों—सबको प्रोत्साहन देकर देश में आवश्यक माल उत्पन्न करने की और इस तरह शीघ्र से शीघ्र आत्म निर्भर बन जाने की। कृषि के सम्बन्ध में भी सरकार ने नम प्रकार की खेती नय तरीकों से कराकर उपज बढ़ाने की नीति निर्धारित की है। हमारी राष्ट्रीय भावना का पूरा बल इसे मिले और सबके दृढ़ सकल्प से यह काय सिद्ध हो। इसमें सबका कल्याण है। इसमें जो मदद करता है वह देश का मित्र और जो बाधा डालता है वह शत्रु। ऐसी राष्ट्रीय भावना से इसकी सिद्धि में मदद मिलेगी। यह भावना राष्ट्रव्यापी हो, राष्ट्र इसके विपरीत कुछ भी सुनने को तैयार न हो, यह राष्ट्रीय एकता से ही सम्भव होगा।

नेता कौन हो ?

इस सबके बाद एक बड़ा प्रश्न रह जाता है इस एकता का नेता कौन हो ? वास्तव में तो नेताओं का उद्गम गांधीजी की सुझाई हुई ग्राम-पंचायतों के माध्यम

से होना चाहिए (देखिए, अध्याय १०)। उनका विकास नीचे से ऊपर की ओर होना चाहिए। परन्तु हमारी राष्ट्रीय सरकार ने उनकी ग्राम-पंचायतों की योजना, अपनी और देश की मर्यादाओं का अनुभव करके अपनी नीति में बढ़ाने योग्य परिवर्तित रूप में स्वीकार की है। अतएव वर्तमान ग्राम-पंचायतों में अखिल भारतीय नेता उत्पन्न करने की शक्ति शायद ही है। इस अवस्था में अपनी केन्द्रीय सरकार को दिल्ली की सरकार को—जो क्षेत्रीय स्वार्थों से ऊंचे उठकर अखिल भारतीय स्वार्थों का साधन करती है अपना नेता मानना अधिक अच्छा होगा। परन्तु स्थानीय कार्यों में स्थानीय अथवा राज्य सरकार ही नेता हो सकती है। व्यक्तियों के नेतृत्व से सरकार का नेतृत्व इसलिए अच्छा होगा कि व्यक्तियों पर संकुचित स्वार्थों का असर पड़ते हमने देखा है। सरकार सब प्रतिनिधियों से विचार विमर्श करने के बाद अपनी नीति, आदेश और कार्य-योजनाएं बनाती है। इसलिए उसके विचारों में व्यक्तिगत स्वार्थों का अवकाश कम रहता है।

फिर भी, सबसे अच्छा गांधीजी का बताया हुआ यह तरीका ही है कि गांव अपनी ग्राम-पंचायत के नेता चुनें। बहुत सी ग्राम-पंचायतों के नेता मिलकर अपना बड़ा नेता चुनें। इसी प्रकार अखिल भारतीय स्तर तक नेताओं का चुनाव होता रहे। ये सब नेता कुछ व्रतों का पालन करनेवाले हों, सब सेवा-परायण और सब चरित्रवान हों। स्वार्थत्याग और राष्ट्रभक्ति उनके कार्यों का आधार हो। गांवों के नेता अपने क्षेत्र के प्रत्येक व्यक्ति से सम्पर्क रखकर सबकी परिस्थितियों, आकांक्षाओं और आवश्यकताओं की जानकारी रखें, और समग्र रूप में उनकी जानकारी अपने से बड़े नेताओं को देते रहें जिससे यह क्रमशः अखिल भारतीय नेताओं तक पहुंच जाए। अर्थात् अखिल भारतीय नेता ग्रामों की आवश्यकताओं, परिस्थितियों और आकांक्षाओं से पूर्णतः परिचित रहें। यदि देश को ऐसे नेता मिल सकें और वे पूर्ण राष्ट्रीय एकता के साथ काम करें, तो रामराज्य को भारतभूमि पर फिर से उतार लाना कठिन न होगा।

बहुमत का निर्णय

जहां अधिक लोग होते हैं वहां मतभेद होना ही है। यदि लोग अपने विभिन्न विचारों पर दृढ़ हों तो क्या किया जाए? उत्तर खोजने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। लोकतन्त्र में बहुमत के निर्णय को स्वीकार करने की व्यवस्था

है ही। हमें वही व्यवस्था हृदय से स्वीकार कर लेनी चाहिए। एक बार जब बहुमत से कोई निर्णय हो जाए तो हर एक व्यक्ति साधारण परिस्थितियों में धर्म के समान उसका पालन करे। इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यक्तिगत विचार-स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य की बलि चढ़ा दी जाए। विचार व्यक्त करने के बाद यदि उन्हें बहुमत द्वारा स्वीकार न किया जाए तो विचारक के लिए दो विकल्प सदा उपलब्ध रहते हैं—या तो वह बहुमत के निर्णय को स्वीकार करके उसके अनुसार कार्य करे या अपने विचारों के अनुसार कार्य करके उनका परिणाम भोगे। दूसरा मार्ग सत्याग्रह का है, जिसका अवलम्बन ऐसे व्यक्ति के लिए ही उचित हो सकता है जो सच्चा देशभक्त हो और अपने जीवन में सत्य तथा ऊंचे सिद्धान्तों का नम्रता और निष्ठा के साथ पालन करता हो। अन्यथा वह उसके उपहास का और देश के अकल्याण का कारण बन जाएगा।

चौदह
उपसंहार

एकता कैसे हो ?

स्वार्थ एकता का सबसे बड़ा शत्रु है। दूसरे शत्रु हैं—धार्मिक कट्टरता और असहिष्णुता, सामाजिक उच्च नीच भाव और दुर्व्यवहार, अपनी संस्कृति के सम्बन्ध में अहंकार और उसके संरक्षण तथा प्रसार के लिए पारस्परिक स्पर्धा, आर्थिक विषमता और धन का आदर, परम्परागत ईर्ष्या-द्वेष, राजनीतिक सत्ता का लोभ या पराधीन देश में नौकरियां। एक बहुत बड़ा शत्रु और भी है—लोक जीवन के प्रति उदासीनता, उपेक्षा भाव और आत्म संतोष।

गांधीजी से पूर्व के प्रयत्न

गांधीजी के पूर्व अनेक महापुरुषों ने अपने काल और परिस्थितियों के अनुसार राष्ट्र में पराक्रमशील एकता स्थापित करने के प्रयत्न किए, परन्तु उन सबको एक मर्यादा में ही सफलता मिल सकी।

हिन्दू मुस्लिम एकता की समस्या अनेक शताब्दियों से विभिन्न रूपों में चली आ रही थी। इसे हल करने का सबसे पहला प्रयत्न बादशाह अकबर ने दीन इलाही के प्रतिपादन द्वारा किया था। परन्तु वह उस समय के कट्टर और राज्याभिमानी मुसलमानों के विरोध के कारण मुख्यतः और हिन्दुओं के स्वधर्माभिमान के कारण सामान्यतः सफल नहीं हो सका।

दूसरा प्रयत्न कबीर आदि सूफी संतों ने किया। उसका भी अन्त वैसा ही हुआ। परन्तु वह अपना प्रभाव सदा के लिए छोड़ गया है।

तीसरा प्रयत्न १८५७ के स्वातन्त्र्य युद्ध के सम्बन्ध में हुआ। वह बहुत हद तक सफल रहा, परन्तु स्थायी नहीं हो सका। उस समय की एकता के पीछे राज्य

सत्ता पाने की आशा थी। विजय हो जाती तो हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को ही अपनी खोई हुई राजसत्ता मिल जाती। परन्तु स्वातन्त्र्य युद्ध के विफल हो जाने के कारण वह आशा मिट गई। बाद में मुसलमानों को अंग्रेजों ने स्वार्थ का लाभ दिया, और वे हिंदुओं से अलग हो गए।

हम जिस विषय पर विचार करना चाहते हैं उसके लिए यह जान लेना आवश्यक है कि इन सब उदाहरणों में एक बात सामान्य थी एकता और फूट में साधारण जनता का कोई सम्बन्ध नहीं था। उसके सामने तो एकता और फूट का प्रश्न ही कभी नहीं रहा। शिक्षित, धनी और प्रभावशाली लोग या नेता उसे जिस ओर चाहते थे, मोड़ लेते थे और उसे अपना अस्त्र बना लेते थे। भारत की जनता तो शक्ति का सुषुप्त भंडार है। उभाड़ने से वह उभड़ आती है अन्यथा शान्त पड़ी रहती है। इसलिए प्रश्न सदा शिक्षित, धनिक और नेतस्थानीय अन्य प्रभावशाली लोगों को मिलाने का रहा। और इनके सामने तो अपने स्वार्थ साधने का लक्ष्य ही प्रमुख रूप में रहता था। यही एकता या फूट के दूसरे कारणों के भी शिकार थे। अधिकतर जनता गाँवों में रही। राजनीतिक उथल-पुथल या शहरी झगड़े-टंटों से वह कभी प्रभावित होती ही नहीं थी। उसकी जीवन पद्धति उदासीनतामय थी—'कोउ नृप होउ हमहिं का हानी चेरी छाँड़ि न होउब रानी।' राजा लोग आपस में लड़ते रहते थे, परन्तु जनता को न तो खेती आदि का काम छकना था न एक दूसरे राज्य में आना-जाना। इतने पर भी फूट के कारण तो बहुत रहे।

वेद वेदांत के आधार पर

आधुनिक भारतीय संस्कृति के प्रणेता राजा राममोहन राय ने स्वातन्त्र्य युद्ध से पूर्व ब्रह्मसमाज की स्थापना द्वारा राष्ट्रीय एकता की दिशा में एक अधिक व्यापक प्रयत्न किया था। राजा राममोहन राय वेदान्त के निष्ठावान भक्त होते हुए भी ईसाई धर्म और यूरोपीय संस्कृति के प्रेमी थे। भारतीय मानस में धर्म का क्या स्थान है, यह वे भली भाँति जानते थे। इसलिए उन्होंने धर्म का आधार लेकर ही, परन्तु उसमें कुछ परिष्कार करके, जिससे वह ईसाइयों और मुसलमानों को भी अपनी ओर खींच सके सब सम्प्रदायों और बुद्धिवादी लोगों को आकर्षित

चौदह
उपसंहार

एकता कैसे हो ?

स्वार्थ एकता का सबसे बड़ा शत्रु है। दूसरे शत्रु हैं—धार्मिक कट्टरता और असहिष्णुता, सामाजिक उच्च-नीच भाव और दुर्व्यवहार, अपनी संस्कृति के सम्बन्ध में अहंकार और उसके संरक्षण तथा प्रसार के लिए पारस्परिक स्पर्धा, आर्थिक विषमता और धन का आदर, परम्परागत ईर्ष्या-द्वेष, राजनीतिक सत्ता का लोभ या पराधीन देश में नौकरियाँ। एक बहुत बड़ा शत्रु और भी है—लोक-जीवन के प्रति उदासीनता, उपेक्षा भाव और आत्म-सन्ताप।

गांधीजी से पूर्व के प्रयत्न

गांधीजी के पूर्व अनेक महापुरुषों ने अपने काल और परिस्थितियों के अनुसार राष्ट्र में पराक्रमशील एकता स्थापित करने के प्रयत्न किए, परन्तु उन सबको एक मर्यादा में ही सफलता मिल सकी।

हिन्दू-मुस्लिम एकता की समस्या अनेक शताब्दियों से विभिन्न रूपों में चली आ रही थी। इसे हल करने का सबसे पहला प्रयत्न बादशाह अकबर ने दीन-इलाही के प्रतिपादन द्वारा किया था। परन्तु वह उस समय के कट्टर और राज्याभिमानी मुसलमानों के विरोध के कारण मुख्यतः और हिन्दुओं के स्वधर्माभिमान के कारण सामान्यतः सफल नहीं हो सका।

दूसरा प्रयत्न कबीर आदि सूफी सन्तों ने किया। उसका भी अन्त वैसा ही हुआ। परन्तु वह अपना प्रभाव सदा के लिए छोड़ गया है।

तीसरा प्रयत्न १८५७ के स्वातन्त्र्य युद्ध के सम्बन्ध में हुआ। वह बहुत हद तक सफल रहा, परन्तु स्थायी नहीं हो सका। उस समय की एकता के पीछे राज्य-

सत्ता पाने की आशा थी। विजय हो जाती तो हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को ही अपनी खोई हुई राज सत्ता मिल जाती। परन्तु स्वातन्त्र्य युद्ध के विफल हो जाने के कारण वह आशा मिट गई। बाद में मुसलमानों को अंग्रेजों ने स्वार्थ का लोभ दिया और वे हिंदुओं से अलग हो गए।

हम जिस विषय पर विचार करना चाहते हैं उसके लिए यह जान लेना आवश्यक है कि इन सब उदाहरणों में एक बात सामान्य थी एकता और फूट से साधारण जनता का कोई सम्बन्ध नहीं था। उसके सामने तो एकता और फूट का प्रश्न ही कभी नहीं रहा। शिक्षित धनी और प्रभावशाली लोग या नेता उसे जिस ओर चाहते थे मोड़ लेते थे और उसे अपना अस्त्र बना लेते थे। भारत की जनता तो नवीन का सुषुप्त भंडार है। उभाड़ने से वह उमड़ आता है, अन्यथा शान्त पड़ा रहता है। इसलिए प्रश्न सदा शिक्षित धनिक और नेतृस्थानीय अन्य प्रभावशाली लोगों को निमित्त का रहा। और इनके सामने तो अपने स्वार्थ साधने का लक्ष्य ही प्रमुख रूप से रहता था। यही एकता भंग करने के दूसरे कारणों के भी शिकार थे। अधिकतर जनता गांवों में रही। राजनीतिक उथल-पुथल या शहरी झगड़े-टंटों से वह कभी प्रभावित होती ही नहीं थी। उसकी जीवन पद्धति उदासीनतामय थी— कोउ नृप होउ हमहिं का हानी चेरी छाडि न होउब रानी। राजा लोग आपस में लड़ते रहते थे, परन्तु जनता का न तो खेती आदि का काम रुकता था, न एक दूसरे राज्य में आना जाना। इतने पर भी फूट के कारण तो वहीं रहे।

वेद वेदान्त के आधार पर

आधुनिक भारतीय संस्कृति के प्रणेता राजा राममोहन राय ने स्वातन्त्र्य युद्ध के पूर्व ब्रह्मसमाज की स्थापना द्वारा राष्ट्रीय एकता की दिशा में एक अधिक व्यापक प्रयत्न किया था। राजा राममोहन राय वेदान्त के निष्ठावान भक्त होने हुए भी ईसाई धर्म और यूरोपीय संस्कृति के प्रेमी थे। भारतीय मानस में धर्म का क्या स्थान है, यह वे भली भांति जानते थे। इसलिए उन्होंने धर्म का आधार लेकर ही, परन्तु उसमें कुछ परिष्कार करके, जिससे वह ईसाइयों और मुसलमानों को भी अपनी ओर खींच सके, सब सम्प्रदायों और बुद्धिवादियों को । का आदर्श

करने तथा एक सूत्र में बांधने का प्रयत्न किया। आगे चलकर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी मृत्यु निकट समझकर ब्रह्म समाजियों को १८ सूत्रों का एक संदेश दिया था (१८८६) जो एकता की प्रेरणा से ओतप्रोत है। उसका आरम्भ ऋग्वेद के इस मंत्र से होता है

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

ऋग्वेद १० १९१। २ ३ ४

अर्थात् एकसाथ मिलकर रहो। एक होकर बोलो। हृदय से एक हो जाओ। जैसे पुरातन देवगण सब मिलकर अपने-अपने स्थान पर बैठकर अपना अपना भाग ग्रहण करते हैं वैसे ही तुम भी करो। हृदय से एक हो जाओ। हेतु सबका समान है। सभा सबकी समान है। मन सबका समान है। इसलिए सबके विचार भी समान हों, एक हों। तुम्हारे प्रयत्न एकतामय हों तुम्हारे हृदय और विचार एक से हों (अर्थात् जब जो मंगलमय, कल्याणकारी एवं उचित हो उस समय सबके मन में वही विचार उठे और उसके अनुसार सब काम भी करें) जिससे तुम सब एक साथ सुख से रह सको।

यह प्रयत्न भी बहुत सफल नहीं हुआ। केशवचन्द्र सेन ने इस संस्था को ईसाई धर्म प्रधान बनाने का प्रयत्न किया और इसमें फूट पड़ गई तथा समाज का ह्रास आरम्भ हो गया।

स्वामी दयानन्द ने वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के प्रयत्नों द्वारा एकता दृढ़ करनी चाही। परन्तु उनके प्रयत्नों से उत्तर भारत के हिन्दुओं की एक बहुत बड़ी संख्या तो आर्यसमाज के झंडे के नीचे संगठित हो गई और वह जाग्रत तथा पराक्रमशील भी थी परन्तु मुसलमान, ईसाई और सनातनी विचारों के हिन्दू दूर हो गए। अर्थात्, इससे भी राष्ट्रीय एकता का प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ।

महाराष्ट्र में प्रार्थनासमाज और मद्रास में थियासॉफिकल सोसाइटी ने भी हिन्दू धर्म और वेदान्त दर्शन को ही प्रधान आधार बनाकर तथा सामाजिक सुधारों

राजनीतिक आधार पर हिन्दुओं और मुसलमानों को मिलाने का पहला प्रयत्न तो १८५७ में हुआ था, दूसरा १९१३ में उस समय के राष्ट्रवादी नेता मुहम्मद अली जिन्ना ने किया। वह सफल भी हुआ। १९१६ में लीग ने कांग्रेस की १४ सूत्री योजना पर अपनी मुहर लगा दी और मुसलमान कांग्रेस के साथ मिलकर स्वराज्य की लड़ाई में शामिल होने को राजी हो गए। बाद में गांधीजी ने खिलाफत का आन्दोलन अपने हाथ में ले लिया। इससे यह एकता और भी मजबूत हुई। परन्तु वह बहुत समय तक चल न सकी।

महात्मा गांधी जब भारतीय कर्मक्षेत्र में उतरे, उनके सामने केवल हिन्दू-मुस्लिम-एकता का प्रश्न नहीं था। एकता तो उस समय दिखाई पड़ रही थी, परन्तु उन्हें सारे देश को स्वराज्य का मंत्र देना था और उसे आगे कर स्वराज्य तक ले जाना था। उनकी कल्पना भी साधारण स्वराज्य की नहीं, रामराज्य की थी। इसलिए उन्हें प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक समूह, वर्ग और सम्प्रदाय को उसके लिए तैयार करना था। प्रत्येक का सहयोग भी उसमें प्राप्त करना था।

गांधीजी के प्रयत्न

स्वराज्य था। इसके साथ ही उन्होंने यह आश्वासन देकर कि यदि मेरा कार्यक्रम मेरे कहने के अनुसार पूरा किया गया तो एक वर्ष में ही स्वराज्य मिल जाएगा, जन जन में बिजली की जैसी स्फूर्ति फैला दी। लोग उसके लिए सब कुछ करने को तैयार हो गए।

उसके बाद उन्होंने संग्राम का मार्ग बताया। वह था अहिंसात्मक असहयोग और सत्याग्रह का। इसमें तोपों और बन्दूकों का आश्रय लेने की जरूरत नहीं थी, केवल अपने ऋषि मुनियों के बताए हुए मार्ग पर चलने से ही लक्ष्य सिद्धि हो सकती थी। और इसे वे अपनी धर्म-पुस्तकों में बचपन से पढ़ते चले आए थे। उन्हें यह सरल मालूम हुआ। इसपर कुतूहल भी हुआ और अपना ही एक मौलिक मार्ग होने के कारण इसका गौरव भी हुआ। देश की समस्त साधारण जनता ने इसे एक दिल से स्वीकार कर लिया। अनेक शिक्षित व्यक्ति अपनी वकालत और नौकरियाँ छोड़ छोड़कर सर्वत्र फैल गए और जनता का मार्ग-प्रदर्शन करने लगे। इन सब नेताओं से उच्च चारित्र्य निःस्वार्थ सेवा त्याग कष्ट सहन आडम्बरहीन जीवन आदि की अपेक्षा की जाती थी और ये यथाशक्ति भरसक उसे पूर्ण करते थे। अतएव इनका अपने क्षेत्र के लोगों पर बहुत प्रभाव होता था।

परन्तु केवल त्याग और कष्ट सहन से तो सदा काम चलनेवाला नहीं था इसलिए गांधीजी ने उसके साथ ही रचनात्मक कार्यक्रम भी दिया जिसके निवारक निर्माणात्मक और सेवापरक तीन पहलू थे। निवारक पहलू बहिष्कार मद्य निषेध और अस्पृश्यता निवारण आदि में व्यक्त होता था। निर्माणात्मक पहलू खादी तथा ग्रामोद्योग राष्ट्रीय शिक्षा और पंचायतों द्वारा न्याय प्राप्त करने में व्यक्त होता था। सेवा का पहलू कुष्ठ रोगियों, गायों और अस्पृश्यों आदि की सेवा में व्यक्त होता था। रचनात्मक कार्यक्रम की कल्पना गांधीजी ने अपने स्वप्न के रामराज्य की तैयारी के रूप में की थी। वे कहते थे कि इन सब कार्यों से हम अपने जीवन की व्यवस्था स्वयं करने की कला तथा योग्यता अर्जित करनी चाहिए जिससे जब स्वराज्य आए उस समय हम उसे ग्रहण करने और सुचारु रूप से चलाने में अयोग्य न ठहरें। बहिष्कार के फलस्वरूप खाली हुए लोगों को तत्काल कुछ विधायक कार्य मिल जाए और उनकी शक्ति व्यय न हो यह उद्देश्य तो इसका था ही, परन्तु काम ऐसा चुना गया जो राष्ट्र को स्वतन्त्र करने में और उसके भविष्य निर्माण करने में सहायक हो।

जो काम किसीने नहीं किया वह गांधीजी ने हाथ में उठाया, और उसमें सफलता पाई। वह था देश की स्त्रियों को जो केवल चूल्हे चौके से बंधी हुई थी, बाहर निकालने और उनसे स्वराज्य आंदोलन का पूरा पूरा काम लेने का। अब तक स्त्रियों के लिए जो काम किए गए थे वे विधवा विवाह, बाल विवाह पर प्रतिबन्ध परदा प्रथा को तोडने और उनके लिए थोडी बहुत शिक्षा की व्यवस्था तक ही सीमित थे। गांधीजी ने उन्हें पुरुषों की बराबरी का दर्जा देकर स्वराज्य-सेना की शक्ति हजारों गुनी बढा ली। उनके अहिंसात्मक कार्यक्रमों में स्त्रियां विशेष रूप से सफल हुई। उनके कर्मक्षेत्र में आ जाने से समाज के चारित्रय का स्तर ऊंचा हुआ। एकता स्थापित करने में भी स्त्रियों का बहुत योग रहा। इस सबके अलावा अगली पीढी को ऐसी संतानें मिलीं जिनकी माताओं ने देश के लिए जेल की यातनाएं, लाठियां और तरह-तरह के दूसरे कष्ट सहे थे। अतएव संतानों में देशभक्ति की उत्कट भावना होना स्वाभाविक था। स्वामी विवेकानन्द आदि कुछ युग पुरुषों ने इससे पहले भी लोकसेवा के लिए स्त्रियों का आह्वान किया था। परन्तु वह अधिक सफल नहीं हुआ था। गांधीजी के आन्दोलन में प्रातःस्मरणीया कस्तूरबा और भारत कोकिला श्रीमती सरोजिनी नायडू से लेकर छोटे छोटे कार्यकर्ताओं की माताएं, बहन बेटियां और पत्नियां तक शामिल हुई।

केवल एक भावना

इन सब कार्यक्रमों से गांधीजी ने देश के विशाल जन-समुदाय को प्रभावित करके सब धर्मों, जातियों, वर्गों और क्षेत्रों के लोगों को एकता के सूत्र में बांध दिया। दुर्भाग्यवश उनमें केवल एक ही भावना गहरी जड जमा सकी—स्वराज्य की। गांधीजी की असली शिक्षा को जो सत्य और अहिंसा की थी—और जिसमें स्वार्थ-त्याग, सेवा, तप, निरंतर कर्म, प्रेम, न्याय आदि के सनातन तत्व दूध पानी की भांति घुल मिल थे—उन्होंने स्वराज्य संग्राम का आयुध मात्र समझा और स्वराज्य मिलते ही उनकी आवश्यकता पूरी हो गई, ऐसा मानकर उन्हें छोड दिया। परिणाम यह हुआ कि गांधीजी इन दोनों तत्त्वों के द्वारा जिन बुराइयों और कमियों को दूर करके रामराज्य की पक्की नींव डाल देना चाहते थे, वह सम्भव न हुआ और राष्ट्र अपने पुराने स्वार्थों संघर्षों, खींचातानी, सत्ता लोभ आदि के दलदल में फंस गया। राष्ट्रीय एकता भी तभी तक रह पाई जब तक

विभिन्न स्वार्थों का उदय नहीं हुआ। आज एक बार फिर से वही समस्या हमारे सामने मुंह बाकर खड़ी हो गई है।

गांधीजी के कार्यक्रम का आधार हिंदू धर्म और हिंदू परंपरा थी। इसलिए हिंदुओं पर उनका अधिक असर होता था। परन्तु वे सब धर्मों के प्रति समभाव रखते थे। उनके मुख्य आदर्श सत्य और अहिंसा थे। इसलिए उनके कार्य में किसी को अधिक धार्मिक भेदभाव दिखलाई नहीं पड़ता था—और सभी उनका सर्वजन हितैषी मानकर उनकी सराहना करते थे, उनकी शिक्षाओं के अनुसार अपना या अपने समाज का जीवन ढालने की आराधना करते थे। परन्तु भारतीय मुसलमानों का एक समुदाय उनके प्रभाव से अलग रह ही गया।

पर्याप्त साधना नहीं

हिंदू मुस्लिम ऐक्य की स्थापना में पूर्णतः सफल नहीं हुए, इसका कारण वे यह बताते थे कि 'मुझमें पर्याप्त शक्ति नहीं आई, और अधिक साधना की जरूरत है।' परोक्ष में इसका अर्थ यह होता है कि देश ने इस कठिन समस्या को हल करने के लिए पर्याप्त साधना नहीं की। और इससे इनकार कौन कर सकता है? यही साधना करने में इसी देश के एक युवक ने, जिसे साधना में सम्मिलित होना चाहिए था, उन्हें अपनी गोलियों का लक्ष्य बनाया।

इससे यह प्रश्न भी उठता है और उठाया जाता है कि उनके सत्य तथा अहिंसा के आदर्श इतने ऊंचे थे कि उनके सब प्रयत्नों के बाद भी स्वाभाविक मर्यादाओं से ग्रस्त देश उनका पालन नहीं कर सकता था। अर्थात् उन्होंने देश में जिस चारित्र्य का विकास करने की अपेक्षा की वह उसकी स्वाभाविक शक्ति के बाहर था। उन्हें चाहिए था कि वे देश की शक्ति का मापतौल कर उसके अनुसार ही उससे अपेक्षा करते, काम लेते।

इसका उत्तर तो स्वयं गांधीजी ही दे सकते थे। परन्तु एक साधारण सा उत्तर यह हो सकता है कि राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा और मुहम्मद को भी उनके जमाने के लोग कष्ट देने में नहीं चूके थे और उन्होंने उनके आदर्शों की सिद्धि में पूरा योग नहीं दिया था। दूसरा और अधिक उपयुक्त उत्तर यह है कि उनके जिन आदर्शों को जनता की शक्ति के बाहर बताया जाता है उनका ही यत्किंचित् पालन करके उसने स्वराज्य पा लिया और इस घटना पर आज भी

लोग कुतूहल और आश्चर्य करते हैं। आदर्श सदा वर्तमान शक्ति की पहुँच के बाहर की वस्तु होता है। अन्यथा वह आदर्श ही कैसे रहे? उसके लिए कठिन साधना की आवश्यकता होती है। गांधीजी की जो लोग आलोचना करते हैं उन्होंने कभी उनके आदर्शों पर चलने का प्रयत्न ही नहीं किया। कुछ लोगों ने एक हद तक प्रयत्न करके अपनी साधना को रोक दिया। परन्तु उनके चेतन या अचेतन मानस को महसूस हुआ कि आगे साधना न करने का कोई कारण बताना जरूरी है, नहीं तो जन साधारण में हम कमज़ोर या भगोड़े समझे जाएंगे और उनपर हमारी धाक न रहेगी। इसलिए उन्हें कहना पड़ा कि गांधीजी के आदर्श इतने ऊंचे हैं कि 'जन साधारण उनपर आचरण नहीं कर सकते।' वास्तव में कमज़ोरी उनकी अपनी थी, अर्थात नेतृस्थानीय लोगों की थी। जन साधारण में तो आदर्श पर मर मिटने की शक्ति अपार होती है। त्रुटि केवल यह होती है कि वह शक्ति निरंतर जाग्रत नहीं रहती। उसे जाग्रत रखने के लिए नेता, गुरु आदि की ज़रूरत होती है। या उन्हें लगातार बढ़ते रहने के लिए किसी ऐसे लक्ष्य की आवश्यकता होती है जिससे वे अलग न हो सकें।

गांधीजी ने उन्हें सत्य और अहिंसा के आधार पर रामराज्य का लक्ष्य प्रदान किया था। इससे भी आगे बढ़कर उन्होंने उन्हें आध्यात्मिक उन्नति करके मोक्षाभिमुखी बनने का अथवा अपने आसपास से प्रारंभ करके सारी सृष्टि के साथ ऐकात्म्य स्थापित करने का मार्ग दिखाया था। ये लक्ष्य भारतीय प्रकृति के इतने अनुकूल और उसके लिए इतने आकर्षक हैं कि जन साधारण इनकी ओर बराबर बढ़ते रह सकते थे। शर्त केवल यह थी कि उन्हें अवसर मिलता—आरंभ में ही कच्ची स्थिति में ही, उनके मार्ग में बाधाएं और उनके मन में बुद्धि भेद या सन्देह उत्पन्न न कर दिया जाता।

कमज़ोरों का आदर्शवाद

अधिकतर नेतृस्थानीय लोगों की दिलचस्पियां दूसरी थीं, विविध थीं और शुद्ध सांसारिक थीं। अर्थात उनमें गांधीजी के आदर्शों की दृष्टि से कमज़ोरियां थीं। कमज़ोरियों का भी एक आदर्शवाद होता है जिसे यथार्थवाद जैसे अनेक सुंदर नामों से पुकारा जा सकता है। उन नेतृस्थानीय व्यक्तियों ने इस 'कमज़ोरी के आदर्शवाद' की शरण ली। इसे अच्छा सा चोला पहनाकर उन्होंने इसके पीछे

दूसरो को भी खीच लिया जिससे वे खुद अकेले न रहें। जन-साधारण भ्रम म सशय म पड गए। अन्त म वे गांधीजी के अधिक साधनामूलक (इसलिए अपेक्षाकृत कठिन) माग को छोडकर इन नेतृस्थानीयो के अल्प साधनामूलक (इसलिए अपेक्षाकृत सरल) माग की ओर मुड गए।

वास्तव म दुबलता और कमी जन साधारण म नही नेतृस्थानीयो म थी। और जो आलोचना होती है वह य बुद्धि प्रधान और अविरल साधना स भागन वाले नेतृस्थानीय लोग ही करते हैं। इनम कुछ बडे-बडे लोग होत हैं कुछ ग्राम स्तर म भी।

इस दृष्टि से देखा जाए तो गाधीजी क आदर्शों म कोई कमी नही थी। व जन-साधारण की अपार शक्ति स परे नही थ। परन्तु जन साधारण को सदा जागरुक और साधना निरत रखने का दायित्व जिन लोगो पर था उन्होने उस ठीक रास्ते पर ले जाने क बदल अपनी दुबलताए उसपर आरोपित करक उसे पीछे खीच लिया, गलत दिशा म चला दिया। यही कारण था कि गाधीजी क एकता के प्रयत्न पूरी तरह सफल नही हुए और बाद म उनकी दूसरी शिक्षाओ को भी भुला दिया गया।

यहा यह स्पष्ट कर दना आवश्यक है कि इन नेतस्थानीय लोगो म सभी वर्गों सम्प्रदायो आदि क लोग शामिल थे जो अपनी बुद्धि स जन-साधारण को प्रभावित करते थ। इसलिए हिन्दू मुस्लिम एकता स्थापित करन म गाधीजी को जो पूरी सफलता नही मिली (और भारत का विभाजन और पाकिस्तान का निर्माण रोक न सका) उसकी जिम्मेदारी किसी एक सम्प्रदाय पर नही, सभी सम्प्रदायो क उन नतस्थानीय लोगो पर है जो साधना माग से पीछे हटे या जिन्होने उस कभी स्वीकार ही नही किया और आलोचना का माग स्वीकार करके जाने अनजाने, जन-साधारण को अपन कमजोरी के माग पर अपन पीछे खीच लिया।

तार्किको के तक

तक करनेवाले यह तक भी कर सकते हैं कि जब गाधीजी नेतृस्थानीय लोगो का ही, जिनसे उन्हें काम लेना था अपने आदर्शों पर चलने के लिए तयार नही कर सके तब जिस जनता में वे उनके द्वारा काम करते थे वह उनके आदर्शों पर

कम चल सकती थी ?

जो सत्य दीखता है उसे स्वीकार करना ही होगा। परन्तु गांधीजी ने मिट्टी के पुतलों को जीते जागते मनुष्य बनाया और उनसे काम लिया। वे अपनी शक्ति का उपयोग स्वराज्य प्राप्त करने तक ही कर सके। उससे आगे नहीं बढ़ सके। अर्थात उन्होंने गांधीजी के आदर्शों पर उन्नति तो की परन्तु वे एक मंजिल पर जाकर अटक गए। यदि गांधीजी अधिक जीवित रहते तो क्या आश्चर्य कि वे अपने व्यक्तिगत प्रभाव तथा अपने आत्मबल से उन्हें और आगे ले जाते ? यह अपेक्षा तो कोई नहीं कर सकता कि हर आदमी बराबर उन्नति करे या एक निश्चित अवधि में सब साथी गांधीजी के बराबर बन जाएं। कभी मनुष्य के जीवन में रुकावट नहीं आएगी यह भी कोई नहीं कह सकता। परन्तु यह अक्सर देखा गया है कि मनुष्य गिर गिरकर फिर फिर उठता है, और आगे भी बढ़ता है। नेतृस्थानीय लोगों के जीवन में एक रुकावट आई। वे गिरे। परन्तु फिर न उठेंगे, या फिर न उठेंगे, यह कौन कह सकता है ? हम यह भी नहीं भूल सकते कि भारत राष्ट्र के इतिहास में गांधीजी के नेतृत्व के तीस वर्षों का इतिहास चमक तो सकता है, परन्तु वही सब कुछ नहीं हो सकता। जिसको जितना श्रेय मिलना चाहिए वह मिलेगा ही। शेष के लिए आशावाद या यहां तक कि अंधविश्वास भी हेय न होगा।

गांधीजी ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए जो चतुर्मुखी कार्यक्रम देश को दिया था उसमें एकता के सबसे बड़े शत्रु स्वार्थ के सिर उठाने के लिए भौतिक आधार पर कभी गुंजाइश थी ही नहीं। उनके आन्दोलन का मूलमन्त्र ही त्याग था। और जनता ने जिसका जितना अधिक त्याग देखा उसे उतना ही अधिक सिर-आंखों लिया।

इसी प्रकार गांधीजी ने धार्मिक कट्टरता को सर्वधर्म-समभाव का प्रचार करके, सामाजिक विषमताओं को अस्पृश्यता निवारण द्वारा तथा वर्ण व्यवस्था और जाति प्रथा को नया तर्कसंगत अर्थ प्रदान करके, सांस्कृतिक अहंकार को सामाजिक भारतीय संस्कृति का रूप देकर, आर्थिक विषमता तथा धन के आदर को खादी-ग्रामोद्योग का न्यायमूलक कार्यक्रम देकर, परंपरागत ईर्ष्या-द्वेष को सत्य, अहिंसा प्रेम और न्याय का संदेश सुनाकर, नौकरियों के लोभ को उनमें सेवाभाव का समावेश करके मिटाने का प्रयत्न किया। राजनीतिक सत्ता का लोभ

उनके जीवन-काल में चिंताजनक नहीं हुआ था, फिर भी बढ़ता रहा था। इसलिए गांधीजी ने उसके विरुद्ध कारवाई करनी शुरू कर दी थी। यदि वे अधिक जीवित रहते और उनकी लोकसेवा संघ की योजना पूरी हो सकती, तो वे अवांछनीय स्थिति को टालने में सफल हो जाते।

गांधीजी की मूलग्राही वृत्ति

गांधीजी को राष्ट्र को एक सूत्र में बांधने में जो सफलता मिली उसका कारण उनकी मूलग्राही वृत्ति तथा सत्य और अहिंसा का आग्रह तो था ही किन्तु केवल मौलिक शिक्षा देने से वह सफलता नहीं मिल सकती थी। इसलिए उन्होंने अपनी प्रत्येक शिक्षा को तदनुरूप कार्य के साथ जोड़ लिया था। और वे हर कार्य को पहले स्वयं करके उसका उदाहरण पेश कर दिया करते थे। यह उनकी सफलता की सबसे बड़ी कुंजी थी।

लोकजीवन के प्रति उदासीनता उपेक्षा भाव और आत्म संतोष भारतीय जनता के मन में भिद गया है। शायद यह सदियों की पराधीनता तथा तज्जन्य असहायता तथा निराशा से विकसित हुआ है। परन्तु कारण कुछ भी हो, गांधीजी ने जनता को जाग्रत् करके आसपास के और सारे राष्ट्र के जीवन में रस लेने को प्रेरित किया। उनके असहयोग और सत्याग्रह आन्दोलन और उनके निर्माणक कार्यक्रम—सबने यह काम किया। फलतः लोगों में समस्त भारत को एक समझने की वृत्ति आई।

गांधीजी के सिद्धान्तों पर आज भी खोई हुई बांधने वाली राष्ट्रीय एकता को वापस लाया जा सकता है। परन्तु उसके लिए जीवन पद्धति को तथा राष्ट्र-नीति को सत्य अहिंसा के अनुसार ढालना होगा। इस प्रकार स्थापित की हुई एकता स्वयं सेवापरक, परानमनशील संवेदनशील जागरूक और सातत्यमय होगी।

परन्तु गांधीजी ने लोकसेवा संघ के लिए जो विधान बनाया था (अध्याय १०) उसमें उनके जीवन भर के अनुभवों का निचोड़ समाया हुआ है। स्वतंत्र भारत के लिए उसमें अधिक सम्भावनाएं हैं वह अधिक उपयुक्त भी है। उसमें एक प्रकार के सेवामय व्यक्तितंत्र और स्वार्थरहित लोकतंत्र का समन्वय और नीचे से ऊपर की ओर विकास की व्यवस्था है। उससे शासन अधिक लोकानुकूल और लोकहितकारी हो सकता है।

गैर सरकारी तरीके

एकता और सेवा के कुछ प्रयत्न तो आज राष्ट्रीय सरकार के द्वारा ही हो सकते हैं, कुछ गैर सरकारी तरीके पर हों। जब तक गैर सरकारी साधनों का विकास न किया जाए, तब तक जनता और सरकार के बीच एकता लाना बहुत कठिन है, यद्यपि असंभव नहीं माना जा सकता। यदि गांधीजी के परामर्श के अनुसार कांग्रेस को उस समय लोक सेवा संघ में परिणत कर दिया गया होता तो वह आज अपनी उत्तम प्रतिष्ठा के कारण गैर सरकारी स्तर पर बहुत उपयोगी होती। परन्तु अब उसकी हस्ती शासक दल की हो गई है, इसलिए वह गैर सरकारी स्तर पर सच्ची सेवा नहीं कर सकती। उसकी वह पुरानी प्रतिष्ठा और सेवा की परंपरा भी कायम नहीं रही।

भूदान ग्रामदान

गैर-सरकारी स्तर पर सेवा करने का दूसरा तरीका आचार्य विनोबा का भूदान ग्रामदान का है। उसे सर्वोदय कार्य का अंग मानना चाहिए। सरकार अहिंसात्मक क्रांति के इस महान अनुष्ठान में सक्रिय सहायता करके देश का अभूतपूर्व कल्याण सिद्ध कर सकती है। एकता स्थापित करने की शक्ति तो इस आंदोलन के पग पग में भरी है। इससे अद्भुत एकता केवल स्वराष्ट्र को ही नहीं, अन्य राष्ट्रों को भी एक सूत्र में बांधकर अहिंसात्मक क्रांति के मार्ग पर अग्रसर कर सकती है। आचार्य विनोबा मानते हैं

१ भूदान-ग्रामदान,
२ धनदान, कूपदान आदि,
३ श्रमदान,
४ बुद्धिदान, विद्यादान आदि, और
५ जीवनदान।

इस कार्यक्रम द्वारा सत्य, अहिंसा, न्याय, सेवा, प्रेम आदि सभी उदात्त गुणों का विकास होता है। परन्तु साधारण भाषा में यह अहिंसात्मक उपायों द्वारा जीवन व्यवस्था में सात्विक क्रान्ति का साधन है। आज की भूति परायण जीवन व्यवस्था में गांव के गरीब लोग अपनी सम्पत्ति दान कर रहे हैं, यह इतनी ही एक

बहुत बड़ी भावनात्मक क्रांति है। परन्तु इसके बाद सबको मिलकर, पारस्परिक सहयोग के साथ अपने गांव का और बाद में अपने बृहत्तर क्षेत्र को स्वावलम्बी बनाना है। इस निरंतर बढ़ने वाले क्षेत्र की कोई सीमा निश्चित नहीं की जा सकती। यदि आंदोलन को आदर्श के अनुरूप चलाया जाए तो वह सारे विश्व को अपनी समेट में ले सकता है। इसमें पहले पहल गांव वालों का श्रम होगा, कुछ स्थानीय या बाहरी लोगों का धन होगा और पढ़े लिखे लोगों की विद्या का योग होगा। जीवनदानी इस पूर्ण करने का व्रत लेंगे। यह सब सदभावना के आधार पर। किसीका कोई विशेष स्वार्थ इसमें न होगा। परन्तु सबके स्वार्थ में व्यक्ति का स्वार्थ तो पूरा होता ही है। इसमें सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि देश में दो अर्थ व्यवस्थाएं एक साथ चलेंगी। एक सरकार द्वारा स्वीकार की हुई पूर्णतः भूति परायण अर्थ-व्यवस्था है दूसरी यह अध्यात्म परायण होगी। भूति परायण में आरम्भिक अध्यात्म परायण को बहा ले जाने की शक्ति होती है जैसे वर्जित फल के लोभ ने आदम और हौवा को उनके स्थान से गिरा दिया था। यही सरकार की समझदारी और सहानुभूतिपूर्ण सहायता की कसौटी होती है।

समन्वय आंदोलन

तीसरा तरीका है, आचार्य काकासाहब कालेलकर का समन्वय आंदोलन। इधर कुछ वर्षों से वे लगातार विभिन्न धर्मों में समन्वय स्थापित करने के कार्यक्रम चला रहे हैं। यद्यपि अभी इन कार्यक्रमों का क्षेत्र धार्मिक समन्वय तक ही सीमित है, इनमें विकास की बहुत सम्भावनाएं हैं। आखिर धर्म ही तो भारत में सम्पूर्ण जीवन को नियमित और नियन्त्रित करता है। अतएव यह मूलग्राही आंदोलन है। यह पूरा अनुष्ठान ही अभी एकता का है—व्यापक और स्थायी एकता का और धार्मिक विश्वासों में शांति का, नवजागरण का। इसी एकता के प्रयत्नों में आधारभूत स्थान दिया जा सकता है। समन्वय का अर्थ आचार्य काकासाहब कालेलकर के ही शब्दों में यह है

विश्व के सब धर्मों का एक धर्म परिवार है धर्म-कुटुम्ब है। इसका स्वीकार जब सब धर्म करेंगे तब वे पारस्परिक वैमनस्य और शीत युद्ध छोड़ देंगे। हर एक धर्म में मौलिक दोष हैं कमजोरियां हैं। और कई दोष या ही घुस गए हैं। हरएक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म की निंदा करने का धंधा छोड़कर अपने अपने

धर्म की परंपरा को शुद्ध करते जाएं, सब धर्मों के साथ पारिवारिक सम्बन्ध बढ़ाते जाएं और दूसरे-दूसरे धर्म में जो कुछ अच्छा लगे उसका स्वीकार करते जाएं, यही एक कल्याण का मार्ग है—इसीको कहते हैं 'समन्वय'। ('मंगल प्रभात', जून १, १९६६)।

यहां स्वामी विवेकानन्द के एक वचन को उद्धृत कर देना समीचीन होगा। उन्होंने कहा है :

'मेरा अनुभव यही रहा है कि सभी दोषों की उत्पत्ति, जैसा कि हमारे शास्त्र कहते हैं, भेद भाव में विश्वास रखने के कारण होती है। और समानता में, सब भूतों के अन्तःस्थित एकत्व में विश्वास करने से सर्वहित की प्राप्ति होती है। यही महान वेदान्तिक आदर्श है। इसके विपरीत हमारा अनुभव है कि दैनंदिन व्यावहारिक जीवन में इस समता तक पर्याप्त मात्रा में यदि किसी धर्म के अनुयायी कभी पहुंचे हैं तो वे हैं केवल इस्लाम के अनुयायी—भले ही उन्होंने उसके अन्तःस्थित गूढ़ अर्थ को न समझा हो, जिसे साधारणतः हिंदू लोग स्पष्ट रूप से समझते हैं। हमारी मातृभूमि के लिए केवल एक ही आशा है और वह है हिंदू और इस्लाम धर्मों का—वेदान्ती मस्तिष्क और इस्लामी शरीर का—संयोग।' ('जाति, संस्कृति और समाजवाद,' श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, पृष्ठ २४।)

शान्ति-सेना

आचार्य विनोबा और आचार्य काकासाहब कालेलकर दोनों ही शान्ति-सेना के संगठन को भी प्रोत्साहन और बल प्रदान कर रहे हैं। शान्ति-सेना का संगठन सर्वोच्च कार्य का अंग है। यह काम गैर सरकारी ढंग से किया जा रहा है। परन्तु देश में राष्ट्रीय सरकार के होते हुए यह गैरसरकारी रूप में राष्ट्रव्यापी बन सकेगा ऐसी आशा नहीं होती। यदि राष्ट्रव्यापी रूप में सफल हो जाए तो इससे देश की बहुत-सी समस्याएं हल हो सकती हैं। राष्ट्रीय एकता की समस्या तो हल हो ही जाएगी। यह एक बहुत बड़ा साधन है जिसकी सहायता लेकर सरकार नव जीवन के निर्माण को सरल बना सकती है। अपनी वर्तमान नीतियों को बदले बिना सरकार स्वयं इसका संगठन और विकास सफलतापूर्वक कर सकती है या नहीं, यह कहना कठिन है। परन्तु प्रयोग तो किया ही जा सकता है।

ऐक्य होगा। हमारा राष्ट्र अत्यन्त शक्तिशाली बनेगा।'

उस दिन गांधीजी का पुनर्जन्म होगा और वे फिर से एक बार घोषणा करेंगे 'भारत में जो कुछ भी है सब मुझे आकर्षित करता है। ऊंची से ऊंची आकांक्षा वाला मनुष्य जो कुछ चाह सकता है, वह सब भारत में मौजूद है। भारत मूलतः कर्मभूमि है, भोगभूमि नहीं। भारत सबको आत्मबल दे सकता है। मैं भारत का उत्थान चाहता हूं जिससे सारे विश्व को लाभ हो। मैं नहीं चाहता कि भारत दूसरे राष्ट्रों की राख पर खड़ा हो। और एक बार फिर से यह ध्वनि वातावरण में गूंज उठेगी

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

हम छोटे मनुष्य तो इतना ही सोच सकते हैं कि समस्त राष्ट्र एकता में मेल जोल से रहें जिससे हमारी शक्ति बढ़े, हम यथेष्ट धनोपार्जन करके निर्विघ्न उसका उपभोग करें, कोई बाहरी राष्ट्र हमपर आक्रमण करके हमारी स्वतन्त्रता या सम्पत्ति छीनने का प्रयत्न करे तो हम सफलतापूर्वक अपनी रक्षा कर सकें आदि। यह अधिक सीमित और पूर्ण भौतिक बात भी हम सोच सकते हैं कि हम एक होकर प्रयत्न करें जिससे हमारा समाजवाद का लक्ष्य पूर्ण हो जाए और राष्ट्र में मनुष्य मनुष्य के बीच वर्तमान आर्थिक तथा सामाजिक विषमता न रहे। हम साम्प्रदायिक एकता की बात सोच सकते हैं, भाषाई, क्षेत्रीय, दलीय एकता की बात सोच सकते हैं, बहुत हुआ तो, भावनात्मक एकता की चर्चा कर सकते हैं। सबका उद्देश्य एक ही है—सांसारिक सुख, निर्बाध सांसारिक सुख।

अखिल सृष्टि का शाश्वत ऐक्य

परन्तु जिनकी आत्मा उन्नत है, वे इन सांसारिक सुखों को तुच्छ मानकर अखिल सृष्टि के साथ शाश्वत ऐक्य स्थापित करके परम कल्याण की साधना करते हैं। वे आत्मा में विश्वात्मा को और विश्वात्मा में आत्मा को देखने की साधना करते हैं जिससे दुखमात्र का अन्त हो जाए और सब सुखी हों, सब नीरोग हों, सब सर्वत्र शुभ देखें—सर्वत्र शुभ का साम्राज्य हो जाए।

गीता में भगवान ने कहा है

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।

विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥
समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥१३। २७-२८

शरीर का नाश होता है, परन्तु शरीर का स्वामी आत्मा हर शरीर में सम-भाव से रहता है, उसका नाश नहीं होता। जो यह देखता है, वही देखता है। शेष सब आँखें होते हुए भी देखते नहीं। ईश्वर को सर्वत्र एक समान देखने के कारण ईश्वर का एक रूप ईश्वर के दूसरे रूप का हनन कैसे कर सकता है? यह तो असंभव है। इस प्रकार देखने वाला मनुष्य परम गति प्राप्त करता है।

उपनिषद् का ऋषि कहता है

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥
—ईश० ७।

जो सब भूतों में आत्मा को ही देखता है उस निरंतर एकत्व दर्शन करने वाले विज्ञानी पुरुष को मोह कहाँ और शोक कहाँ?

भारत का यही आदर्श है। उसके ऋषि मुनियों ने और उसके वेदान्त ने एकता का यही सनातन संदेश सुनाया है। गांधीजी की सत्य की खोज का परम-लक्ष्य यही था। तत्त्वज्ञानी इस तत्त्व को समझकर कृतार्थ हुए हैं और आशा करते हैं कि किसी न किसी दिन सारा विश्व इस महान सत्य को समझकर और स्वीकार करके कृतार्थता अनुभव करेगा। बुद्धि से जो समझ लिया गया है, कर्म से उसे पुष्ट न किया जाए तो वह अधूरा रहेगा। यह शिक्षा ऋषि मुनियों ने दी। गांधीजी ने कर्म का सरल मार्ग दिखाकर इस शाश्वत ज्ञान का सरल विधान बना दिया, इसकी क्रमिक साधना सबके लिए सुगम कर दी। इसके लिए जनता ने उनका आभार माना और उनका सिर उनके सामने सदा नत हो गया।

० ० ०

विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥
समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥१३। २७–२८

शरीर का नाश होता है, परन्तु शरीर का स्वामी आत्मा हर शरीर में सम भाव से रहता है, उसका नाश नहीं होता। जो यह देखता है, वही देखता है। शेष सब आँखें होते हुए भी देखते नहीं। ईश्वर को सर्वत्र एक समान देखने के कारण ईश्वर का एक रूप ईश्वर के दूसरे रूप का हनन कैसे कर सकता है? यह तो असंभव है। इस प्रकार देखने वाला मनुष्य परम गति प्राप्त करता है।

उपनिषद् का ऋषि कहता है

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥
—ईश० ७।

जो सब भूतों में आत्मा को ही देखता है उस निरंतर एकत्व देखने वाले विज्ञानी पुरुष को मोह कहाँ और शोक कहाँ?

भारत का यही आदर्श है। उसके ऋषि मुनियों ने और उसके वेदान्त ने उस एकता का यही सनातन संदेश सुनाया है। गांधीजी की सत्य की खोज का परम लक्ष्य यही था। तत्त्वज्ञानी इस तत्त्व को समझकर कृतार्थ हुए हैं, और आशा करते हैं कि किसी न किसी दिन सारा विश्व इस महान सत्य को समझकर और स्वीकार करके कृतार्थता अनुभव करेगा। बुद्धि से जो समझ लिया गया है, कर्म से उसे पुष्ट न किया जाए तो वह छूछा रहेगा। यह शिक्षा ऋषि मुनियों ने दी। गांधीजी ने कर्म का सरल मार्ग दिखाकर इस शाश्वत ज्ञान को सरल विज्ञान बना दिया, इसकी कठिन साधना सबके लिए सुगम कर दी। इसके लिए वेदान्तियों ने उनका आभार माना और उनका सिर उनके सामने श्रद्धा से नत हो गया।

० ० ०